Catalog

2.pdf ····· 1
3.pdf ····· 2
4.pdf ····· 3
5.pdf ····· 4
6.pdf ····· 5
7.pdf ····· 6
8.pdf ····· 7
9.pdf ····· 8
10.pdf ····· 9
12.pdf ····· 10
13.pdf ····· 11
14.pdf ····· 12
15.pdf ····· 13
16.pdf ····· 14
17.pdf ····· 15
18.pdf ····· 16
19.pdf ····· 17
20.pdf ····· 18
21.pdf ····· 19
22.pdf ····· 20
23.pdf ····· 21
24.pdf ····· 22
25.pdf ····· 23
26.pdf ····· 24
27.pdf ····· 25
28.pdf ····· 26
29.pdf ····· 27
30.pdf ····· 28
31.pdf ····· 29
32.pdf ····· 30
33.pdf ····· 31
34.pdf ····· 32
35.pdf ····· 33
36.pdf ····· 34
37.pdf ····· 35
38.pdf ····· 36
39.pdf ····· 37
40.pdf ····· 38
41.pdf ····· 39
42.pdf ····· 40
43.pdf ····· 41

44.pdf ····· 41
45.pdf ····· 43
46.pdf ····· 44
47.pdf ····· 45
48.pdf ····· 46
49.pdf ····· 47
50.pdf ····· 48
51.pdf ····· 49
52.pdf ····· 50
53.pdf ····· 51
54.pdf ····· 52
55.pdf ····· 53

भीतरी पन्नों में

सम्पादकीय : शोध–आलोचना : क्यों और कैसे ? 3

शोध

ज्योतिषशास्त्रा की प्रासंगिकता :	डॉ. कामेश्वर उपाध्याय	5
धर्मशास्त्रों का अध्ययन औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक काल तक:		
हिन्दू महिलाओं से सम्बन्धि कानून	डॉ. मधु सिसौदिया	7
भारतीय दर्शन में मूल्य व्यवस्था के रूप में त्रिवर्ग	डॉ. दीपक रंजन	12
वैदिक संहिताओं में नारी	बृजेश कुमार यादव	16
वेदों में जल का वैज्ञानिक प्रयोग	राकेश कुमार तिवारी	18
प्राचीन युग में पर्यावरण प्रबन्धन	मीरा मिश्रा	20
वैदिक साहित्य में मनुष्य के सामाजीकरण का साधन 'मन'	डॉ. राहुल	22
वैदिक ऋषियों द्वारा वीरता का आह्वान	राजकुमार उपाध्याय	25
वाल्मीकिकालीन शिक्षा	चन्दन लाल गुप्ता	28
ध्वनि सिद्धान्त : सामान्य परिचय	राकेश कुमार सिंह	31
अशोक की धम्म नीति का राजनैतिक आधार	संजीव कुमार	34
केदारनाथ अग्रवाल का काव्य और श्रम	विकास कुमार सिंह	37
हिन्दी नवजागरण की अखिल भारतीय और धर्म	अमित सिंह	39
अज्ञेय के उपन्यास में आधुनिकता	विनीता सिंह	42
नारी विषयक विचार और प्रेमचंद	अनामिका सिंह	45
कथा साहित्य में नारी चेतना और परम्परा की टूटती बेड़ियाँ	वन्दना तिवारी	47
सारनाथ का सामान्य अन्वेषण	शत्रुघ्न कुमार गौतम	49
जैव–विविधता एवं संरक्षण	नवीन मिश्रा	51
भारतीय लोकतन्त्र में सूचना का अधिकार	प्रदीप कुमार जायसवाल	53

पुस्तक अंश

कवि, नागरक	गणेश त्रयंबक देशपांडे	55
सहृदय	डॉ. बच्चन सिंह	57
आलोचना की सामाजिकता	प्रो. मैनेजर पाण्डेय	58

समालोचना

समालोचना	डॉ. बच्चन सिंह	62
तोड़ती पत्थरः रोमान्स पर करूणा का मुलम्मा	प्रो. युगेश्वर	63
रामचरितमानस का वाक् संयोजन	डॉ. मुनीन्द्र तिवारी	64
गान्धारी की चेतना और नए स्त्री प्रतिमान	डॉ0 पूनम सिंह	67
रहस्यवादी कबीर	डॉ. श्रद्धा सिंह	69
आतंकवाद का निराकरणः सामाजिक एवं साहित्यिक सन्दर्भ	डॉ. चन्द्रभान सिंह यादव	72

विमर्श

उत्तर–आधुनिकतावाद	डॉ. बच्चन सिंह	75
उत्तर आधुनिकतावाद के मायने	डॉ. सतीश कुमार सिंह	77
दलित साहित्यान्दोलन के अन्तर्विरोध	डॉ. शशांक शुक्ल	80
उत्तर–आधुनिकता : अन्तिम से अनन्तिम तक	आशीष पाण्डेय	83

पुस्तक परिक्रमा

गाँधी बनाम गाँधी	डॉ. शशांक शुक्ल	87
समसामयिक बोध व संभावना की कहानियाँ	दिलीप कुमार दीक्षित	89

विदग्ध गोष्ठी

रूप से अन्तर्वस्तु की यात्रा	रविशंकर उपाध्याय, पवन कुमार मिश्र	90

संपादकीय

शोध – आलोचना : क्यों और कैसे ?

अकादमिक क्षेत्र में आजकल 'शोध' शब्द दुर्वचन के रूप में प्रयुक्त होता है। फिर शोध – पत्रिका का आयोजन क्यों ? शोध और आलोचना साहित्य की अलग – अलग पद्धति है, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन आलोचना शोधात्मक हो, इसमें क्या आपत्ति है? प्रारम्भ में आालोचना और शोध में ऐसा पार्थक्य नहीं था; जैसा आज देखने को मिल रहा है। आलोचना का जैसे – जैसे विस्तार होता गया, वैसे – वैसे आलोचना से 'शोध' अलग होकर शोध ग्रन्थ तक सिमट कर रह गया। आलोचना शोध परक हो तो उसे पिछड़ा समीक्षक माना जाने लगा। शोध आलोचनात्मक हो तो कहा जाता है कि विद्यार्थी को शोध प्रविधि का ज्ञान नहीं है। नतीजा यह हुआ कि 'शोध–वृत्ति' गायब होती गयी और आलोचना के मानों में निरन्तर गिरावट। 'आलोचना में मौलिकता का ह्रास हुआ है', यह अक्सर सुनाई पड़ता है, लेकिन क्यों हुआ? इसका जवाब किसी के पास नहीं है। वस्तुतः आलोचनात्मक मान अपने आप में कोई वायवीय दृष्टिकोण नहीं है। 'मूल्य' तब विकसित होते हैं, जब नया शोध हो, नयी दृष्टि, नया विचार आये। 'मूल्य' तब स्थिर होते हैं, जब किसी सभ्यता के प्रगतिशील पक्षों का रेखांकन हो; इसलिए भी शोध–पत्रिका की आवश्यकता है।

वर्तमान हिन्दी आलोचना पर कुछ कहना, लिखना आलोचना विधा का मात्र पुनर्मूल्यांकन करना नहीं है, बल्कि सिद्धांत की खोज की दिशा में बढ़ने का प्रयास भी है। आलोचना पर विचार करते हुए प्रथम प्रश्न तो यही खड़ा होता है कि, क्या आलोचना साहित्य में अपना सार्थक हस्तक्षेप कर पा रही है? यह प्रश्न भी उभरता है कि आलोचना की शुरूआत जिस तेवर, सतर्कता और उद्देश्य से हुई थी, उसकि पूर्ति हो पायी है? पुस्तकीय समीक्षा से शुरू हुई हिन्दी आलोचना कहीं फिर पुस्तकीय समीक्षा के इर्द–गिर्द ही तो कैद होकर नहीं रह गई है? काव्यशास्त्र के घेरे को तोड़ कर निकली हिन्दी आलोचना क्या अपना समाजशास्त्र बना पायी है? जाहिर है ये प्रश्न गम्भीर विचार की माँग करते हैं।

जब हम वर्तमान हिन्दी आलोचना की पड़ताल करते हैं, तो पाते हैं कि एक कुँहासा छाया हुआ है। हालांकि न तो कविता विधा की तरह इस पर पाठकीय संकट का खतरा उत्पन्न हुआ है, न कहानी और नाटक विधा, की तरह इस पर घटती लोकप्रियता व उत्कृष्ट रचनाओं के न रचे जाने का आरोप लगा है; बल्कि इस पर विधागत सीमा का अतिक्रमण करने का आरोप जरूर लगा है। जहाँ समीक्षकों का एक वर्ग यह मानता है कि आलोचना अपनी 'रचनानुधाविता' (आनन्द वर्धन) छोड़कर सर्जना और नव्यता का निरर्थक प्रयास कर ही है; वहीं दूसरे वर्ग के समीक्षकों ने ठीक पहले के विपरीत 'आलोचना भी रचना है' का उद्घोष किया। कुछ लोगों ने हिन्दी आलोचकों पर साहित्यिक मठाधीशी, सहित्यिक मर्डरर का अरोप लगाया। कुछ लोगों के अनुसार भावयित्री प्रतिभा से कारयित्री प्रतिभा दब जाये, यह साहित्यक संकट का प्रतीक है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अपने रचना कर्म पर विश्वास करने वाले आमजन पर विश्वास करने वाले रचनाकारों को भी आलोचकीय मठाधीशी और आलोचकीय फतवा का खतरा महसूस होता है। जहाँ तक बात समझ मे आती है कि पल्लवग्राही रचनाकारों व राजाश्रय की बाट जोह रहे कुछ रचनाकारों कि यह निजी समस्या है। लेकिन आलोचकीय मठाधीशी आलोचना को विकृत किये जा रही है, इसमें क्या सन्देह! कुछ माह पूर्व 'मिश्रबंधु किस्म' की आलोचना करते हुए हिन्दी के एक शीर्ष आलोचक ने छायावादी कवियों की नम्बरिंग करके ऊँचा– नीचा करने का प्रयास किया । हिन्दी के एक उभरते आलोचक महोदय ने एक बड़े अलोचक को समीक्षक कहने पर एतराज जताया और उन्हे विचारक कहा। विचारक का स्थान 'समीक्षक' से श्रेष्ठ है या हीन ? यह समझने का बात है। कुछ बड़े अलोचक 'अश्वमेध यज्ञ की तरह अपनी आलोचना का घोड़ा छोड़कर दिग्विजय पर निकल रहे हैं। यह चिंता कि बात है।

हिन्दी आलोचना की एक बड़ी समस्या आलोचकीय क्रमबद्धता व व्यवस्था सम्पन्नता का आभाव है। आलोचना में एक हड़बड़ाहट और अस्थिरता का माहौल है। यह भी देखने मे आ रहा है कि अधिकतर 'समीक्षा की समीक्षा' और 'पुस्तकीय समीक्षा' ही आ रही है। एक बड़े आलोचक ने तो आलोचना से सन्यास लेकर वाचिक परंपरा को ही इतिश्री मान लिया है। सम्भव है लिखित न होने से अपनी बात को काटने में आसानी होती हो। लेकिन यह वक्तृत्व कला आलोचना नहीं है, इसमें क्या संदेह? हिन्दी आलोचना में अराजकता की स्थिति का कारण कुछ लोग हिन्दी आलोचना शास्त्र का आभाव भी मानते हैं। इस बिन्दु पर कुछ लोग 'पाश्चात्य आलोचना के मुकाबले हिन्दी आलोचना कहाँ?' का प्रश्न भी उठाते हैं। इसी प्रश्न पर डॉ0 देवराज ने हिन्दी आलोचकों की प्रतिभा पर प्रश्न चिह्न लगाया है। किसी भी बड़े आलोचको के तीन गुण (रस ग्रहण की क्षमता, अर्जित अर्थ ग्रहण की व्याख्या, सिद्धांत निर्माण की क्षमता) मानते हुए डॉ0 देवराज ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सन्दर्भ में यह सवाल उठाया है कि प्रथम दो में तो आचार्य शुक्ल किसी भी पाश्चात्य समीक्षक से ऊने नहीं पड़ते, लकिन फिर भी किसी साहित्यसिद्धांत की स्थापना क्यों नही कर सके? डॉ0 निर्मला जैन ने हिन्दी 'आलोचना की बीसवीं शताब्दी' पुस्तक में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या यह जरूरी है, कि बड़ा समीक्षक किसी

भी सिद्धांत निर्माण के लिए बाध्य है? इस पर इतना ही कहना है कि सवाल बाध्यता का नहीं अपितु सिद्धांत निर्माण की क्षमता का है।

हिन्दी आलोचना की दिशा–निर्धारण तब और महत्वपूर्ण हो उठती है; जब हम देखते हैं कि आलोचना को दुहरे मोर्चे पर संघर्ष करना पड़ रहा है। एक तरफ तो रचना की व्याख्या, विश्लेषण, स्थान, निर्धारण, उत्कृष्टता का काम, तो दूसरी ओर साहित्य के प्रति रूचि, लगाव विकसित करना, पाठक उत्पन्न करना और साहित्य को लोकप्रिय बनाने का गुरूतर कार्य । इस बिन्दु पर प्राचीन काव्यशास्त्र और आधुनिक आलोचना का अन्तर देखते हुए डॉ0 मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है– "आजकल के जमाने मे आलोचक के लिये केवल साहित्य संसार मे रहकर उसको पूरी तरह समझना संभव नहीं है, क्योंकि अब साहित्य को समझने के लिये साहित्य के बाहर की दुनियाँ को जानना जरूरी हो गया है।" इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हिन्दी आलोचना के औजार क्या बनें ?

हिन्दी आलोचना के पास कुछ औजार तो पारम्परिक हैं। एक लम्बी परंपरा रही है। उस परंपरा से मदद लेकर हम नये सामाजिक चेतना के आलोक में आलोचना का लक्ष्य निर्धारित कर सकते हैं। जहाँ तक साहित्य सिद्धांत निर्माण का प्रश्न है, हिन्दी आलोचकों ने इस दिशा में कोई पहल न की हो,ऐसी बात भी नहीं है। हुआ यह है कि हिन्दी साहित्य सिद्धांत अभी तक बिखरे रूप में है और उनका अपेक्षित विस्तार और प्रसार नहीं हो पाया। "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है।" "ज्ञानराशि संचित कोश का नाम साहित्य है।" "साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है," "साहित्य का लक्ष्य मानव है," "कविता जन चरित्री है", इत्यादि सूत्रवाक्य ऐसे ही विचार रत्न हैं, जिनको अधिक विस्तार देने की जरूरत है। आश्चर्यजनक पहलू यह है कि आलोचना शास्त्र का निर्माण हिन्दी आलोचकों की आलोचना में कम, कवियों की भूमिकाओं में अधिक मिलता है। इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध की पुस्तक 'एक साहित्यक की डायरी' और अज्ञेय की भूमिकाओं पर विशेष सार्थक संवाद की जरूरत बनी हुई है।

◆ 28 मार्च 2008 को पूर्व विभागाध्यक्ष (हिन्दी विभाग) एवं कुलपति, महात्मा गाँधी काशी विधापीठ प्रो0 त्रिभुवन सिंह का निधन हो गया। आपकी दो पुस्तक विशेष चर्चित रही – 'आधुनिक साहित्यिक निबन्ध' और 'उपान्यास और यर्थावाद'।

◆ 5 अप्रैल 08 हिन्दी के चर्चित समीक्षक प्रो0 बच्चन सिंह का निधन काशी की आलोचना के लिए भारी क्षति है। बनारस में रहकर प्रो0 बच्चन सिंह ने सर्वाधिक लिखा है। अभी उसका मूल्याँकन होना शेष है। आपकी 'क्राँतिकारी कवि निराला', 'बिहारी का नया मूल्यांकन', 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' 'आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द', 'आलोचक और आलोचना' जैसी पुस्तकें विशेष चर्चित रहीं। अभी कुछ माह पूर्व आपको साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ था। परमिता परिवार दोनों साहित्यकारों को श्रद्धासुमन अर्पित करता है।

◆ 9 अप्रैल , 2008 को एक निजी चैनल पर प्रसिद्ध कथाकार अमरकांत का साक्षात्कार देख कर काफी देर तक विचलित रहा। अमरकांत 'नयी कहनी आन्दोलन के सर्वाधिक सशक्त हस्ताक्षर हैं। साक्षात्कार में अमरकान्त जी ने अपनी आर्थिक बदहाली का जिक्र किया और आर्थिक मदद की अपील की। अपनी आर्थिक स्थिति के लिए अमरकान्त जी ने प्रकाशकों को जिम्मेदार ठहराया। हिन्दी भाषा के इतने बड़े साहित्यकार की इस स्थिति के लिए कहीं न कहीं हिन्दी प्रदेश की जनता भी जिम्मेदार है। प्रकाशकों के शोषण से लेखक कब मुक्त होगा? इस पर पुनर्विचार की जरूरत है। लेखक का अपनी रचना पर भी अधिकार नहीं है यह चिन्ताजनक स्थिति है।

जहाँ एक ओर इस अंक मे प्राचीन साहित्य पर विशेष सामग्री है , वहीं दुसरी ओर उत्तर आधुनिकता पर विशेष लेख हैं। दो ध्रुवों के मध्य अगला अंक 'भारतीय मध्यकाल विशेषांक' के रूप में निकल रहा है; जो विशेष अर्थ रखता है। इन्हीं बातों के साथ –

शोध

ज्योतिषशास्त्र की प्रासंगिकता

डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय
'प्रख्यात ज्योतिषी व विचारक'

समकालीन विश्व में ज्योतिषशास्त्र की प्रासंगिकता क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ढुढना सामाजिक कार्य है। ज्योतिष शास्त्र की उपयोगिता में ही उसकी प्रासंगिकता समाहित है। वस्तुतः भारतीय विधाओं की प्रासंगिकता का प्रश्न है जिसका उत्तर देना भारतीय तेजस्वी आचार्यो का परम कर्तव्य है।

ज्योतिषशास्त्र वेद का अंग है। अतः यह वेदांग या शास्त्र कहलाता है। ज्ञान के अपार भण्डार वेद हैं एवं तदङ्गभूत अन्य सभी षट्शास्त्र हैं। फलतः भारतीय ज्ञान की अनादि परम्परा प्रासंगिक है कि नहीं यह प्रश्न पश्चिम से उठता रहता है। व्यापकफलक पर ज्योतिषशास्त्र की प्रासंगिकता को तौलने की आज महती आवश्यकता है।

प्रासंगिकता के सनातन लीग : विश्व सभ्यता में जीवित सभ्यताओं की आयु सनातन हिन्दु संस्कृति के समकक्ष अर्वाचीन है। अफ्रीका और चीन की प्राचीन सभ्यता चार हजार के भीतर की आयुवाली है अतः भारतीय ज्योतिष की आयु वाली हैं। अतः भारतीय ज्योतिष की 'स्मृति' अरबों वर्ष की गणना प्रस्तुत करती है, जबकि ईसाई सभ्यता सष्टि को मात्र छः हजार वर्ष प्राचीन मानती है जबकी ईसाई सभ्यता सृष्टि को मात्र छः हजार वर्ष प्राचीन मानती है। यही वैचारिक टकराव का मूल कारण है।

गणितीय आधार : ज्योतिष शास्त्र सृष्टि के आरम्भ से आज तक बिते हुए वर्षों का लेखा जोखा प्रस्तुत करता है। यह गणना सूक्ष्म और प्रमाणिक 1 अरब 95 करोड़ 58 लाख 85 हजार 109 वॉ वर्ष चल रहा है –

इसे अंको मे लिखते हैं – 1955885109। इसमे अंतिम चार अंक कल्यब्द के हैं –5109। ग्रह आनयन में इसी अंक की स्थापना करके वर्षमान 365.258756481 (सूर्य सिद्धान्तीय) से गुणा करके – 2 करने पर अहर्गण निकल आता है। उदाहरणार्थ– संवत् 2065 अर्थात् कल्यब्द 5109।

5109 × 365.258756481–2

= 1866107 –2 = 1866105

यही अहर्गण सौरमत से मेषारम्भ में आता है। विश्वपंचांग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पृष्ठ 3 पर इसका उल्लेख देखें।

अहर्गण × ग्रहयुगभगण / युगसावनादन = मध्यम ग्रह

आज भी इसी सिद्धान्त से भारतवर्ष में अनेक सौरपंचांग बन रहे हैं। और उनसे ग्रहण, उदय एवं अस्त सही–सही निकल आता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्योतिष की गणितीय शुद्धता आज भी प्रासंगिक है, जबकि इसका मान 4 अरब 32 करोड़ वर्ष की दीर्घ संख्या पर आश्रित है। इतनी भारी गणना में 1 दिन की भी अशुद्धि नहीं आती है। ऐसी कोई भी व्यवस्था पश्चिम के गणित में संभव नहीं है। जहॉ भारतवर्ष की गणना 4 अरब 32 करोड़ वर्षों का विस्तृत हिसाब प्रस्तुत करती है वहीं पश्चिम की गणना अनुमान आश्रित है कि सृष्टि आरम्भ दो अरब या तीन अरब वर्ष पूर्व से है। पृथ्वी की उत्पत्ति का अनुमान आधुनिक वैज्ञानिक प्रायः इतना ही मानते हैं। साथ ही उनके अनुमान में कब परिवर्तन, परिवर्द्धन हो जायेगा यह भी निश्चित नहीं है।

विषय पर प्रश्न चिह्न–

यूरोप, अमेरिका आदि पश्चिमी सभ्यता वाले देशों में विगत दो हजार वर्षों से यह धारणा बनी हुयी है कि समय क्षैतिजिक गतिशील है। अतः वह निरंतर आगे बढ़ता जाता है। फलतः भविष्य का कथन संभव नही है। ईसाई मत के अस्तित्व से पूर्व यूरोप में भी ज्योतिष का प्रचार–प्रसार था। आज जब यूरोप की स्मृति में यह बात ही नहीं है कि भविष्य कथनीय हो सकता है, तब उनकी ओर से भारतीय ज्योतिष पर प्रश्न चिह्न खड़ा करना स्वाभाविक है और यूरोपीय विद्याओं की रणनीति के अनुरूप भी है। साथ ही भारतीय आचार्यों की ओर से उनके हठवादी प्रश्नों का उत्तर देना भी अपरिहार्य मांग है। पश्चिम कहता है भविष्य अनिश्चित होता है। अतः उसे सुनिश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष कहता है समय निश्चित क्रम वाला है। इनकी संज्ञायें ही इनके अर्थों को खोलती है।

समय– 'सम्यक् अयते प्रवर्धने स समयः।' अर्थात् जो सुनिश्चित सम्यक् गतिशील हो वह समय है।

काल– 'कलनीयत्वमस्मिन् विद्यते ध्यसौ कालः' जिसमें कलनीयत्व (गणनीयत्व) हो वह काल है।

वर्तमान– वृतु वर्तने धातु से वर्तमान बनता है अर्थात् जिसकी प्रत्यक्ष सत्ता है वह वर्तमान है।

भूत–भविष्य– जिसकी सत्ता थी वह भूत है, जिसकी सत्ता निश्चित ही होने वाली है वह भविष्य है। 'भू सत्तायां धातुः' से भूत–भविष्य बनता है। जो वर्तमान के गर्भ में पलता है वह भविष्य कहलाता है।

समय और काल की सभी ईकाइयों को भारतीय ज्योतिष सुनिश्चित मानता है। यदि पश्चिम के पास ऐसी अवधारणा ही नहीं है तो यह उसकी अल्पज्ञता है, भारतीय ज्योतिष की कमजोरी नहीं है।

मनुष्य की संरचना–

मनुष्य अचानक अकस्मात् कहीं और से नहीं टपक पड़ा है धरती पर। वह पृथ्वी का उत्पाद है। अतः वह पार्थिव है। महर्षि कपिल के अनुसार पंचमहाभूतों के सम्यक् संयोग से प्रत्यक्ष

सद्भाव वाला मानव शरीर बनता है। इन पंच महाभूतों में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश है। प्रथम महाभूत स्वयं पृथ्वी है। अतः मानवी सृष्टि (मनुष्योत्पत्ति) पृथ्वी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होगी। पंचमहाभूतों पर आधारित तेरह करणों के संयोग से मनुष्य बनता है– पंचज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार।

अथर्ववेद कहता है– 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः', भूमि मेरी माता है मैं उसका पुत्र हूँ। इस वेद वाक्य का गणितीय साक्ष्य ज्योतिषशास्त्र प्रस्तुत करता है। मनुष्य पृथ्वी पुत्र–पुत्री है। इसके दो प्रमाण ज्योतिष से और एक प्रमाण योगशास्त्र से मिलता है। (i) 360° = एक वृत्त, 360×60= 21600 कलायें

(ii) पृथ्वी की परिधि 21600÷6876=3.14136= π (3438 पृथ्वी त्रिज्या × 2= 6876 भूव्यास)

3. योगशास्त्र के अनुसार एक स्वस्थ मनुष्य 1 दिन रात में 21600 बार श्वास लेता है।

इन तीनों प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जो श्वास लेता है वह 21600 संख्या पृथ्वी की संख्या है।

1 मिनट में 15 श्वास, 1घं में 900 श्वास, 1 दिन में 21600 श्वास। इस गूढ़तम सृष्टि रहस्य को केवल सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ व्याख्यायित करता है। इस रहस्य का विस्तृतज्ञान 23 मई 2007 को प्रातःकाल मुझे अकस्मात् हुआ। ऐसे ही ज्ञान को प्राचीन आचार्य 'श्रीसूर्यवरप्रसादात्' कहते हैं।

आधुनिक ज्ञान कहता है स्वस्थ मनुष्य 1 मिनट में 18 बार श्वास लेता है। यह भ्रान्त ज्ञान है। प्राणायाम करने वाला स्वस्थ साधक सामान्यतः 1 मिनट में 15 बार ही श्वास लेता है।

केन्द्रीय आक्षेप–

अंग्रेज गणितज्ञ विद्वानों ने भारतीय ज्योतिषियों पर यह आरोप लगाया कि वे भूकेन्द्र पर आश्रित गणित का सहारा लेते हैं। अतः भारत की ज्योतिषिय गणना अशुद्ध है। सूर्य को केन्द्र मानकर ही गणित करना चाहिए। इन अंग्रेज गणितज्ञों में कोलब्रुक, ब्रेंटली, बर्जेज आदि प्रमुख थे। ग्रह कक्षा निर्धारण में सूर्य को केन्द्र में रख जैसे ही पश्चिम में गणित आरम्भ हुआ भारतवर्ष में भी अंग्रेजों के अन्ध समर्थक ज्योतिषियों ने भारतीय ग्रह कक्षा क्रम (जिसमें पृथ्वी केन्द्र में थी) को अशुद्ध घोषित कर दिया। आइंस्टिन ने यह प्रतिपादित किया कि अनन्त वस्तु का केन्द्र किसी भी वस्तु या बिन्दु को मानकर गणना की जायेगी तो वह शुद्ध होगी। इस रहस्य को पश्चिम के अन्धानुयायी गणितज्ञ ज्योतिषी नहीं समझ सके।

आक्षेप की निरर्थकता–

भारतवर्ष में पंचाग बनाने हेतु अति प्राचीन काल से सूर्यसिद्धान्तीय गणित का प्रयोग होता चला आ रहा है। अतः अंग्रेजों ने हल्ला किया कि सूर्य सिद्धान्त आउट आफ डेट ग्रन्थ है। साथ ही कहा कि सूर्य सिद्धान्त भू केन्द्रीय गणित का ग्रन्थ है; जबकि ग्रह गणित सूर्य केन्द्रीय होना चाहिए। इस झाँसे में भारतीय ज्योतिषी भी आ गये। सत्य यह है कि सूर्य सिद्धान्त ग्रन्थ न तो भू केन्द्रीय है न हीं सूर्य केन्द्रीय। सूर्य सिद्धान्त 'मेरूकेन्द्रीय' गणित का ग्रन्थ है।

मेरू को ब्रह्माण्ड का केन्द्र सूर्य सिद्धान्त और प्रायशः सभी पुराण मानते हैं। मेरू का गणित आज भी पश्चिमी गणितज्ञों को नहीं मालूम है।

सूर्यसिद्धान्त पर अद्यतन कार्य–

विलियम ने 1998 ई0 में, स्टोटिंग हुड ने 2002 ई0 में तथा मार्क अलास्क ने 2005 ई0 में सूर्यसिद्धान्त पर कार्य किया है। वस्तुतः आज भी पश्चिम सूर्यसिद्धान्त के द्वारा प्रतिपादित रहस्य को जानना चाहता है।

पृथ्वी और सूर्य–

सौरमण्डल की आत्मा सूर्य है और समस्त ब्रह्माण्ड की वेदी 'द्यावापृथ्वी' है। पृथ्वी द्यावा है। इसमें जीवोत्पत्ति की अपूर्व क्षमता है। यह जननी है। अतः भारतवर्ष इसे सृष्टि की वेदीरूपा मानता है। यदि रहना है पृथ्वी पर तो केन्द्र सूर्य को क्यों मानें?और यदि मंगल, बुध, गुरू, शुक्र, शनि को केन्द्र मानकर गणना की जाय तो कौन सी आपत्ति खड़ी होगी?ये अनेक सूक्ष्म प्रश्न पूर्व से ही ज्ञात है।

सौरपक्षीय और दृक्पक्षीय गणित–

सूर्यसिद्धान्त प्रोक्त गणित सृष्टि के अनेक रहस्यों को अपने अन्दर समेटे हुए है। दृक्पक्षीय गणित भी सूर्यसिद्धान्त से तारतम्यबद्ध अन्तर रखता है। यदि यह अन्तर बेडौल या क्रम हीन होता तो हम सूर्यसिद्धान्त और भारतीय ज्योतिष को विफल मान लेते। सूर्य सिद्धान्त में सूर्य की परमक्रान्ति 24 अंश है जो पूर्णांक है। इस समय दृक्पक्षीय परमक्रान्ति 23 अंश 27 कला है। यदि सूर्यसिद्धान्त से इसे लायें तो $\text{Sin } 24^{\circ} \times \text{Cos } 12^{\circ} = 23^{\circ}26'37"48"$- प्राप्त होता है। फलतः सूर्यसिद्धान्त से आधुनिक क्रान्तिमान भी प्राप्त हो जाता है; पर आर्ष विधि के द्वारा 24 अंश की परमक्रान्ति ही फलितोपयोगी होगी।

भारतीय फलित ज्योतिष और सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ में सृष्टि के अपार रहस्य भरे पड़े हैं। इनकी उपयोगिता और अन्वेषणात्मक प्रतीति से मानवता का कल्याण होगा।

पंचांग परिकल्पना–

तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण ये पंचांग कहलाते हैं। इनका उपयोग भारतवर्ष में ही होता है। पश्चिमी जगत् के लिए ये निरर्थक तत्व हैं। इन्हीं पाँच अवयवों से भारत में मनुष्य के भविष्य को निर्धारित किया जाता है।

सामान्य जिज्ञासु पश्चिमी मनुष्य भारतीय गूढ़ विद्याओं की ओर उन्मुख हुआ है। आवश्यकता है तप और अन्वेषण के माध्यम से अष्टादश विद्याओं की प्रासंगिकता को प्रसृत किया जाए।

भविष्य कहा जा सकता है। भविष्य बनाया जा सकता है। समय के साथ चला जा सकता है। समय को पहचाना जा सकता है। जब तक पृथ्वी पर मनुष्य है तब तक उसका भविष्य चमकदार है और उसके भविष्य को बतलाने की जब तक क्षमता भारतीय ज्योतिष में रहेगी तब तक ज्योतिषशास्त्र की प्रासंगिकता बनी रहेगी; अक्षुण्ण रहेगी।

❖❖❖

धर्मशास्त्रों का अध्ययन औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक काल तक : हिन्दू महिलाओं से सम्बन्धित कानून

शोध

डॉ मधु सिसौदिया
प्रवक्ता (समाज शास्त्र) डी0ए0वी0 डिग्री कालेज, वाराणसी

एक समय था जब भारतीय समाज में नारी का महत्वपूर्ण स्थान था। उसकी सामाजिक एवं आध्यात्मिक चेतना पूर्ण तथा सामाजिक संरचना का केन्द्र बिन्दु थी। कोई आयोजन नारी के अनुपस्थिति में अपूर्ण माना जाता था। किन्तु दुर्भाग्य से नारी अपनी इस गरिमा से गिरती चली गयी। बौद्ध काल में नारी को भिक्षु–संघ में प्रविष्ट होने की आज्ञा दे दी गयी थी किन्तु इस्लाम तथा मुगल काल में पुनः नारी की स्थिति में गिरावट आ गयी जो अंग्रेजी शासन काल में बद से बदतर हो गयी। वह शोषण–उत्पीड़न, दासता व अत्याचारों की शिकार बनती चली गयी लेकिन आजादी के पूर्व तथा बाद के वर्षों में भारतीय नारी के उत्थान एवं विकास के विभिन्न प्रयास किए जाने लगे।

प्रस्तुत पत्र स्त्री के भिन्न स्थितियों में अधिकारों को समय के साथ परिवर्तित कानूनों में स्पष्ट करता है।

1. विवाह से सम्बन्धित कानून

ऋग्वेद में सूर्य विवाह सूक्त 10वें मण्डल में सम्पूर्ण विवाह नियम का उल्लेख मिलता है। ऋग्वैदिक समाज ने विवाह को कानूनी वैधता प्रदान की और विवाहित क़न्या को अपने पति के घर में गृहस्वामिनी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ बताया गया था।

8 प्रकार के विवाहो का उल्लेख मनुस्मृति में किया गया है। जिसमें स्वजातीय विवाह को ही पंसद किया जाता था।

गुप्तोत्तर सामाजिक व्यवस्था में ब्रह्म, प्रजापत्य, आर्ष और दैव विवाह ही मान्य थे। अन्तर्जातीय विवाह को उचित नहीं माना गया।

स्वतंत्रता से पहले हिन्दू स्त्रियों को विवाह विच्छेद का कानूनी अधिकारी नहीं था। फिर भी सन् 1946 में कुछ विशेष परिस्थितियों में स्त्री को अपने पति से अलग रहने और पति से भरण पोषण की राशि प्राप्त करने का अधिकार दिया गया लेकिन असमान्य परिस्थितियों में।

1872 के विशेष विवाह अधिनियम में विवाह पर लगे धार्मिक प्रतिबन्धो को हटाकर उन सभी व्यक्तियों को आपस में विवाह करने का अधिकार दिया गया था जो किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करते। 1923 में इसमें संशोधन करके अन्तर्जातीय विवाहों को भी मान्यता दी। 1954 में विशेष विवाह अधिनियम को पारित किया गया जिसमें अब किसी भी धर्म और जाति के व्यक्ति एक दूसरे से विवाह कर सकते थे तथा विवाह के पहले उनके द्वारा यह घोषणा करना आवश्यक नहीं है कि वे किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करते। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह कानूनी प्रक्रिया से होता है। विवाह के समय वर की आयु 21 व वधु की कम से कम 18 वर्ष हो। ऐसे विवाहों में पति–पत्नी की आपसी सहमति से भी विवाह विच्छेद हो सकता है।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 वैवाहिक अधिकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि महिलाओं को पूरी समानता प्रदान की है। पति–पत्नी दोनों को विवाह विच्छेद में सहायता के लिए जो आधार प्राप्त है उनसे कुछ अधिक पत्नी को दिए गए हैं। दंड कानून के अन्तर्गत एक विवाह को अनिवार्य माना गया है और द्वि–विवाह एक अपराध माना गया है, और क्रूरता की संपूर्ण अवधारणा बदल गयी है। अब पत्नी से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह शारीरिक या मानसिक यातना बर्दाश्त करती रहे।

पिछले वर्ष लाया गया घरेलू हिंसा अधिनियम इसी दिशा में बढ़ाया गया महत्वपूर्ण कदम है। इसमें महिला को प्रभावी संरक्षण देने के साथ ही उपचारात्मक उपाय सुझाने का प्रावधान है। इस कानून के अन्तर्गत सिर्फ पत्नी का रिश्ता ही स्थान नहीं पाता बल्कि पत्नी, बेटी, बहन, माँ यानि स्त्री के अपने परिजनों के साथ सभी तरह के अत्याचार या दुर्व्यवहार को अपराध मानकर आरोपियों के खिलाफ कार्यवाही की जायेगी। इस कानून के अन्तर्गत महिलाओं को अपने पति के घर रहने का अधिकार भी मिल जायेगा। भले ही घर उसके नाम से हो या न हो।

2. विधवाओं से सम्बन्धित कानून

मनु[1] ने यद्यपि विधवा को पुनर्विवाह का विरोध किया है। जबकि नियोग प्रथा का समर्थन किया है लेकिन इसके पीछे आर्थिक कारण नहीं है।

गृह्यसूत्र भी विधवा पुनर्विवाह के विषय में मौन है।

गुप्तोत्तर काल में विधवाओं की स्थिति सोचनीय हो गयी थी। बाल विधवाओं के कारण सामाजिक, नैतिकता प्रभावित हो रही थी। ऐसे में इनके आचार विषयक नियमों को लाया गया।

विधवाओं के संदर्भ में पुनर्विवाह को लेकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नेतृत्व में आन्दोलन चला और पुनर्विवाह अधिनियम 1856 पारित किया गया जिससे धार्मिक मान्यताओं के कारण लगा प्रतिबन्ध समाप्त हुआ। इन कानून के बाद भी विधवा पुनर्विवाह कम ही हुए। 1890 तक कुल 500 विधवा पुर्नविवाह हुए थे और उनमें से अधिकांश कुमारी विधवा थी। उंची जाति को वे विधवाएँ जो कुँवारी नहीं थी उनका पुनर्विवाह नहीं हो सका।[2] इस अधिनियम में सम्पत्ति के प्रावधानों

विभाजन की मांग करने से वंचित करती थी। अधिनियम की धारा 24 का लोप किया गया है, जिसमें पुनर्विवाह करने वाली कुछ विधवाओं को विधवा होने के कारण उत्तराधिकार प्राप्त करने से वंचित किया गया था। अधिनियम की अनुसूची के वर्ग 1 में पूर्व मृत पुत्रियों को उसी तरह शामिल किया गया है, जिस तरह पूर्व मृत पुत्रों को शामिल किया गया है।

4. सती होने से सम्बन्धित कानून

सती होने की प्रथा प्राचीन, यूनानियों, जर्मनों स्लवी एवं अन्य जातियों में पायी गयी है।[1]

वैदिक साहित्य में सती होने के विषय में न तो कोई निर्देश मिलता है और न कोई मन्त्र ही प्राप्त होते हैं। गृह्यसूत्रों ने भी इसके विषय में कोई विधि नहीं प्रस्तुत की है। विष्णुधर्म[2] सूत्र को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र ने भी सती होने के विषय में कोई निर्देश नहीं दिया। मनुस्मृति इसके विषय में मौन है। धर्मशास्त्रियों ने ब्राह्मण विधवाओं के लिए सती होना वर्जित माना है। ब्राह्मणियों का विधवा रूप मे जल जाना क्षत्रिय विधवाओं के जल जाने की प्रथायें बहुत दिनो उपरान्त आरम्भ हुआ है।

ऐतिहासिक कालों में जो सती प्रथा प्रचलित थी उसके पीछे कोई पौरोहितिक या धार्मिक दबाव नहीं था और न अनिच्छुक नारियां ऐसा करती थी। यह प्रथा कालान्तर में बढ़ती गयी। यह कहना कि पुरूषों ने इसके बढ़ने में सहायता की अनुचित है। एक रोचक मनोभाव के कारण ही सती प्रथा का विकास हुआ। प्राचीन काल में विजित राजाओं एवं शूरों की पत्नियों की स्थिति दयनीय होती थी। जीते हुए लोग विजित लोगों की पत्नियों से ही बदला चुकाते थे। उन्हें बन्दी बनाकर दासियों जैसा व्यवहार करते थे। सतियों के लिए प्रतिफल (पुण्य प्राप्ति) की चर्चा भी है। मेधातिथि का कहना है –यह आत्महत्या है और स्त्रियों के लिए वर्जित है। शुद्धितत्व ने सती होने की विधि पर प्रकाश डाला है।

गुप्तोत्तरकाल में सती की वैधता को लेकर स्मृतिकार एकमत नहीं थे फिर भी अन्य कालों की अपेक्षा सती प्रथा को अधिक वैधानिकता दी गयी। पूर्व मध्यकाल में सती प्रथा का प्रचलन मुख्यतया सामन्तवर्ग में था।

भारत में सामाजिक विधानों के इतिहास में सतीप्रथा निषेध अधिनियम 1829 सबसे पहला अधिनियम हैं। इसका उद्देश्य हिन्दू समाज में व्याप्त सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित करना था। 1987 में सरकार ने इस अधिनियम की विस्तृत समीक्षा करके और अधिक प्रभावी बनाया है। इसके अनुसार किसी विधवा स्त्री से सती होने के लिए बाध्य करना या इस कार्य में स्त्री को किसी प्रकार की सहायता करना एक दण्डनीय अपराध हो गया है।

सती प्रथा बन्द होने के पूर्व शताब्दियों में देश के अन्य भागों की अपेक्षा बंगाल की विधवायें अधिक संख्या में जला करती थी, इसके लिए उपयुक्त कारण भी थे। बंगाल को छोड़कर अन्य भागों के संयुक्त परिवारों में विधवाओं को भरण पोषण के अतिरिक्त सम्पत्ति के कोई अन्य अधिकार प्राप्त नहीं थे। बंगाल में दाय-भाग का प्रचलन था, पुत्रहीन विधवा को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में वही अधिकार प्राप्त था जो उसके पति का होता था। ऐसी स्थिति में परिवार के अन्य लोग पति की मृत्यु की पतिभक्ति को पर्याप्त मात्रा में उत्तेजित कर देते थे जिससे कि वह पति की चिता में भस्म हो जाय।

5. दहेज से सम्बन्धित कानून

पारिवारिक संबंधो के क्षेत्र में भारतीय दण्ड संहिता के अनु. 498 ए घरेलू हिंसा से पत्नियों की रक्षा के लिए 1986 में एक संशोधन द्वारा शामिल कर लिया गया। यह अनु0 दहेज उत्पीड़न के संबंध में ही नहीं है बल्कि पति या ससुराल वालों के सभी तरह के बर्बर व्यवहार से संबंध रखता है। दहेज प्रतिबंधित एक्ट 1961 में बना तथा 498 ए 1986 में। 1986 का संशोधन दहेज मौतों के प्रति न्यायिक रवैया बदलने से किया। इस धारा के अन्तर्गत पत्नी के विरूद्ध अत्याचार को गैर जमानती संज्ञेय अपराध माना गया और तीन वर्ष तक के कारावास का प्रावधान किया गया। साक्ष्य कानून की धारा 113–ए में संशोधन करके अदालतों को आत्महत्या के लिए मजबूर करने के मामलें में हस्तक्षेप को अनुमति देता है। धारा 174 के अनुसार विवाह के सात वर्षो के बाद भी मरने वाली महिला के शव का पोस्टमार्टम कराना अनिवार्य कर दिया गया। विवाहित स्त्रियों की असामान्य परिस्थितियों में हुई मृत्यु को हत्या के लिए प्रयुक्त धारा 302 के अन्तर्गत पंजीकृत किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय ने 2005 में निर्देश दिया कि मीडिया द्वारा इस कुप्रथा के बारे में जागरूकता पैदा करने, दहेज विरोधी साक्षरता अभियान शुरू किये जाने तथा दहेज निषेध कानून पर मशीनरी को सक्षम तरीके से अमल में लाने को कहा है।

6. बाल विवाह से सम्बन्धित कानून

ऋग्वेद[1] में विवाहावस्था के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त होता किन्तु कन्यायें अपेक्षाकृत बड़ी अवस्था प्राप्त होने पर ही विवाहित होती थीं। विष्णु पुराण में वर एवं कन्या की विवाह अवस्थाओं का अनुपात 1/3 रखा है। गौतम[2] के अनुसार युवती होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। इसी कारण कालान्तर में एक नियम सा बन गया कि कन्या का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिए। भले ही वर गुणहीन ही क्यों न हो।[3]

गुप्तोत्तर काल में विवाह की आदर्श आयु 8 वर्ष मानी गयी है। भारत में बाल विवाह की समस्या, मध्यकाल से लेकर ब्रिटिश काल तक इतनी गम्भीर रही है कि, 3–4 वर्ष के बच्चों का विवाह सामान्य घटना बन गयी। इस समस्या के निवारण के लिए 1860 और 1891 में दो अधिनियम बनाये गये लेकिन इनमें विवाह के समय लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः 10 और 12 वर्ष निर्धारित

होने के कारण यह बिल्कुल भी उपयोगी नहीं हुए। 1929 में राय हर विलास शारदा की सिफारिशों के आधार पर बाल विवाह निरोधक अधिनियम पास हुआ और 1 अप्रैल 1930 को सम्पूर्ण भारत में लागू हुआ और विवाह के समय लड़के की आयु कम से कम 18 वर्ष और लड़की की आयु 15 वर्ष (1949 के संशोधन के अनुसार) होना आवश्यक है। इसके द्वारा किसी भी अपराधी को दण्ड देना बहुत कठिन था जिसके कारण यह अधिनियम व्यावहारिक रूप से अधिक सफल नहीं हो सका। पुलिस इस प्रकार के विवाह का अपने आप चालान नहीं कर सकती। ऐसा होने से पहले उसे अदालत से आज्ञा प्राप्त करना पड़ता है। जिसे प्राप्त करने तक विवाह हो चुका होता था। एक बार किसी भी रूप में विवाह हो जाने के पश्चात् उसे फिर अवैध करार नहीं दिया जा सकता था। बाल विवाह अवरोध (संधोधन) अधिनियम 1978 से विवाह की न्यूनतम आयु कन्या के लिए 18 वर्ष और वर की 21 वर्ष की गयी है। कानून की नीति यह है कि इससे कम उम्र के बच्चों के विवाह होने के बावजूद विवाह को शून्य या अविधिमान्य न माना जाय। विवाह वैध होगा। हिन्दू विवाह कानून 1955 में धारा 18 (ए) जोड़ी गयी है जो बाल विवाह करवाने वालों को सजा देती है लेकिन यहां भी विवाह वैध रहता है। शादीशुदा या नाबालिग लड़की या वे औरते जो विवाह करवाने में सहयोग देती हो उन्हें सजा का प्रावधान नहीं है।

जनहित याचिका' की सुनवाई करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने हाल ही में विभिन्न धार्मिक उत्सवों के दौरान देश के विभिन्न हिस्सों में होने वाले हजारो बाल विवाहों पर कड़ा रूख अपनाते हुए विभिन्न राज्यों के जिलाधिकारियों और पुलिस अधीक्षकों को इन पर कड़ाई से रोक लगाने का निर्देश दिया है। जनहित याचिका दाखिल होने वाले एन.जी.ओ. नें 2004 के विधेयक में कमजोर पक्षों की आलोचना की और कहा कि इस विधेयक के पिछले कानून की खामियों को दूर करने की बजाय विधेयक के अनुच्छेद तीन में कहा गया है कि बाल विवाह को अमान्य उसी हालत में किया जा सकता है जब बच्चे उसके लिए कार्यवाही करें। यह भी कहा गया कि इस विधेयक में किसी प्रकार बाल विवाह होने के सूरत में वहां के अधिकारियों को दंडित किये जाने के प्रावधान का अभाव है।

अब विवाह का (2005) पंजीकरण कराना प्रत्येक भारतीय के लिए अनिवार्य हो गया है। चाहे वो देश में रहता हो या विदेश में। इसका मुख्य उद्देश्य बाल विवाह की संख्या में कमी लाना है।

7. भ्रूण हत्या से सम्बन्धित कानून

वृद्ध हारीत' नें पति एवं भ्रूण की हत्या करने वाली स्त्री की नाक कान एवं अधर काट लेने की व्यवस्था दी है। वर्तमान समय में प्रसव पूर्व निदान तकनीकी अधिनियम 1994 के अनुसार गर्भावस्था में बालिका भ्रूण की पहचान करने पर रोक लगाता है जिससे बालिका भ्रूण की समाप्ति न कराया जा सके। 1961 के प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम के द्वारा 80 कार्य दिवस पूरे होने पर महिला कर्मियों को प्रसव/गर्भपात हेतु आकर्षक रूप से निर्धारित अवकाश तथा चिकित्सा सुविधा दी जाती है। ये अधिनियम अनु0 42 से प्रेरित है।

8. अन्य महत्वपूर्ण कानून

मध्यकाल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा–सम्बन्धी व्यवस्था कहीं उच्चतर थी। धर्मसूत्रों एवं मनु ने वेदाध्ययन के मामले में उच्चवर्ण की नारियों को भी शूद्र की श्रेणी में रखा है।

गुप्तोत्तर काल में कन्याओं की शिक्षा केवल सम्पन्न परिवारों तक ही सीमित थी। वात्स्यायन का मानना है कि स्त्री इतनी शिक्षित हो जिससे वह घर का बजट बना सके और उसके अनुरूप खर्च की व्यवस्था कर सके।

विकास के क्रम में महिलायें भी घर से बाहर निकलकर काम करने लगी। इस क्रम में समान वेतन कानून 1976 में लागू हुआ जो अनुच्छेद 39 से प्रेरित था जिसके अन्तर्गत स्त्री व पुरूष के लिए समान कार्य के लिए समान वेतन की दर तय की गयी स्त्री होने के कारण उसे न तो कम वेतन दिया जा सकता और न ही नौकरियों में नियुक्ति के समय भेदभाव किया जा सकता था।

श्रम क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं को विशेष सुरक्षा एवं सुविधायें उपलब्ध कराने के उद्देश्य से भी सरकार द्वारा अधिनियम बनाये गये हैं। अन्तर्राज्यिक प्रवासी कर्मकारी अधिनियम 1979 के द्वारा कुछ विशेष नियोजनों में महिला कर्मियों के लिए अलग शौचालय तथा स्नानागारों की व्यवस्था करना अनिवार्य बनाया गया है। ठेका श्रम अधिनियम 1970 के द्वारा उनसे केवल दिन में ही अधिकतम 9 घंटे तक का कार्य लेने का कानून बनाया गया। बीड़ी एवं सिगार कर्मकार अधिनियम 1966 के अनुसार निर्धारित सीमा में महिला कर्मकार के होने पर इनके बच्चों हेतु शिशु सदनों की अनिवार्य रूप से व्यवस्था करना है। 1951 का बागान श्रम अधिनियम भी महिला कर्मकारों को अपने बच्चों को दूध पिलाने हेतु आवश्यक रूप से अवकाश दिये जाने का प्रावधान करता है। 1956 में स्त्रियों और कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम पारित करके भारतीय समाज में महिलाओं का अनैतिक कार्यों में दुरूपयोग करने वालों पर रोक लगाने का प्रयास किया गया जिसे 1986 में वेश्यावृत्ति निवारण अधिनियम द्वारा और प्रभावी बनाया गया। साथ ही स्त्री गरिमा को बनाये रखने के लिए 1986 में ही स्त्री अशिष्ट निरूपण निषेध अधिनियम पास करके महिलाओं के अश्लील प्रदर्शन पर रोक लगाने का प्रयास किया गया। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 292/294 के अन्तर्गत अशिष्टाचार या अश्लीलता के विस्तार क्षेत्र का वर्णन किया गया है। 73वे व 74वें संविधान संशोधन 1993 के द्वारा महिलाओं को त्रिस्तरीय पंचायतों में एक तिहाई आरक्षण प्रदान किया गया है। महिलाओं के अधिकारों के लिए

संघर्ष करने वाली महिलाओं को राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित कर प्रोत्साहन देने के लिए सन् 2000 से स्त्री शक्ति पुरस्कार योजना शुरू की गयी है।

हमारे संविधान में पुरूषों के समान ही महिलाओं को भी मौलिक अधिकार दिए हैं। जैसे – समानता, स्वतन्त्रता, शोषण के विरूद्ध, धार्मिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार। महिलाओं के हितों की रक्षा और उनके विकास के लिए आवश्यक कदम उठाने हेतु सरकार को परामर्श देने के लिए 1992 में देश में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन भी किया गया। और इसी तर्ज पर विभिन्न राज्यों में राज्य महिला आयोग का भी गठन किया गया है।

इतना होने पर भी महिलाओं से सम्बन्धित समस्यायें एवं कुरीतियां आज भी विद्यमान है। ऐसे में कानूनी प्रावधानों को व्यावहारिक करने में सामाजिक जागरूकता और अन्य कार्यों को भी करना होगा। समस्या यह है कि भारत में प्रजातन्त्र आज भी परिवार और समाज के स्तर पर व्यवहारिक नहीं हो सका है। प्रजातान्त्रिक मूल्यों की व्यवहारिकता के लिए प्रगतिशील शैक्षणिक, आर्थिक संस्थाओं का होना आवश्यक है। इसीलिए समस्याओं को लेकर बनाये गये कानून आज भी सार्थक नहीं हो सके हैं। जरूरत इस बात की है कि ग्रामीण एवं शहरी आर्थिक सामाजिक ढाँचे को मजबूत किया जाय और समाज में जब प्रगतिशीलता आरम्भ होगी तो इन कानूनों की प्रासंगिकता स्वयं समाप्त हो जायेगी। शहरी मध्यमवर्गीय परिवारों में धीरे–धीरे प्रजातन्त्र मान्य होने लगा है। ऐसे में लिंगभेद असमानता जैसी समस्यायें समाप्त हुयी हैं। बालिका शिक्षा स्वावलम्बन को लेकर मनोभावनायें पूर्णतः सकारात्मक हो गयी है। आवश्यकता इस बात की है कि कैसे ये मूल्य सम्पूर्ण समाज में व्यापक हों। इसके लिए यह हो सकता है कि पुरुष प्रधान समाज व सरकार को अपनी सोच बदलनी होगी कि वे विशेषाधिकारी नहीं है। महिला वर्ग को भी अपनी दुर्दशा सुधारने के लिए पुरूष वर्ग का मार्गदर्शन स्वैच्छिक सहयोग आदि स्वीकार करना चाहिए। अशिक्षा को दूर करके महिलाओं को आर्थिक रूप से सक्षम बनाने के लिए उन्हें रोजगार के लिए अधिकाधिक अवसर देने के लिए समाज व सरकार को सकारात्मक पहल करनी पड़ेगी। महिला वर्ग को भी मिलती जा रही स्वतंत्रता, सुविधा व भागीदारी को सार्थक सिद्ध करने के लिए हमेशा सकारात्मक तथा सक्रिय कदम उठाते हुए पाश्चात्य अश्लीलता का अंधानुकरण बन्द करना होगा क्योंकि ये असामाजिक कृत्यों के बढ़ाने में भी एक कारण है।

❖❖❖

शोध

भारतीय दर्शन में मूल्य व्यवस्था के रूप में त्रिवर्ग

डॉ. दीपक रंजन
दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मूल्य मीमांसा दर्शनशास्त्र का एक अपेक्षाकृत नया विषय है, किन्तु पाश्चात्य विवेचनाएँ सदैव से ही मूल्याश्रित रही है और यह बात न केवल पाश्चात्य दर्शन के लिए बल्कि भारतीय दर्शन के लिए भी समान रूप से कही जा सकती है। भारतीय दर्शन में एक सुपरिभाषित मूल्य स्वतन्त्र रूप से शायद कभी रहा, लेकिन भारतीय दार्शनिक साहित्य में मूल्य सन्दर्भ की कमी नहीं रही। भारत में दर्शनशास्त्र वस्तुतः मोक्षशास्त्र है। यह मुक्ति का विज्ञान है। अतः मोक्ष के विषय में ऐसा ज्ञान प्राप्त कराना जो उसकी उपलब्धि करा सके, दर्शनशास्त्र का विषय है।

परम्परागत भारतीय दर्शन में मूल्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, किन्तु ऐसे अनेक पदों का प्रयोग हुआ है जो मूल्यार्थी या कहीं जिनके अर्थ मूल्य की ध्वनि देते हे। ऐसे में भारतीय दर्शन का सहज ही मूल्यरंजित हो जाना स्वाभाविक है। मूल्यों की चर्चा करते समय मूल्य के साथ विमूल्य (मूल्य का नकारात्मक स्वरूप)के बारे में भी अवश्य सोचते है। कहा जा सकता है कि मूल्य यदि एक स्वीकारात्मक पद है तो विमूल्य 'मूल्य' का निषेध है। मूल्य और विमूल्य मानो एक ही श्रेणी के दो आयाम है, जिसके एक छोर पर निरपेक्ष मूल्य है और दूसरे छोर पर निरपेक्ष विमूल्य और इन दोनों के बीच अपेक्षाकृत न्यूनाधिक मूल्यवत्ता के बिन्दु है। इसी प्रारूप का अनुसरण करते हुए भारतीय दार्शनिक साहित्य में हमें मूल्य–विमूल्य की ओर संकेत करते हुए अनेक समानार्थी पद मिलते है। इनमें से तीन पद विशेष उल्लेखनीय हैं – 1. इष्ट–द्विष्ट अथवा इष्ट–अनिष्ट 2. अर्थ–अनर्थ और 3. श्रेय–प्रेय।

हिरियन्ना के अनुसार इष्ट, जिसका अर्थ 'इच्छा का विषय', संस्कृत में मूल्य के लिए प्रयोग किया गया है। इसका विलोम द्विष्ट है, जिसका अर्थ है वह विषय जिसकी इच्छा न की जाय या जिसकी इच्छा से बचा जाय।[1]

यदि इष्ट को हम मूल्य मानते हैं तो भारतीय मूल्य दर्शन की स्थिति बहुत कुछ पाश्चात्य दार्शनिक आर.बी. पैरी के दार्शनिक मत के समान हो जाती है।[2] पैरी के अनुसार वह हर वस्तु जिसमें मौलिक रूप से, या सामान्य अर्थ में मूल्य है, वह अनिवार्यतः अभिरूचि का विषय होता है। मूल्य को अभिरूचि का विषय बताना बहुत कुछ मूल्य को इष्ट बताना है। इष्ट 'इच्छा का विषय' है और इच्छा अपने विषय की अनुकूलतया कल्पना करती है।[3] दूसरे शब्दों मे वह अपने प्रयोजन के अनुसार विषय ढूँढती है। ऐसे में मूल्य केवल इष्ट नहीं रह जाता बल्कि एक प्रयोजन बन जाता है। मनुष्य का प्रयोजन क्षणिक सुख न होकर अन्ततः निःशल्य और अत्यन्त सुख है।[4] यह कष्टरहित और पूर्ण–सुख है। इसे निरतिशय, सुख भी कहा जा सकता है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में जहाँ 'मूल्य–विमूल्य' को 'इष्ट–अनिष्ट' शब्द द्वय से जाना गया है वहीं इसके लिए 'अर्थ–अनर्थ का भी प्रयोग किया गया है। भारतीय वाङ्मय में अर्थ एक अनेकार्थी शब्द है। इसका प्रयोग कम से कम चार तरह से किया जाता है। 1. अर्थ से तात्पर्य अभिप्राय से है। अर्थ उस विषय की ओर संकेत करता है जो किसी शब्द का अभिप्राय होता है। जैसे–लोटा शब्द, उस पदार्थ की ओर संकेत करता है, जिसके लिए पद लोटा प्रयोग किया गया है। 2. एक व्यापक अर्थ में 'अर्थ' से आशय व्यक्ति के अभिप्राय या प्रयोजन से है। अर्थ वह है कि जो व्यक्ति का प्राप्य है, गन्तव्य है। इस अर्थ में अर्थ एक मूल्य बन जाता है और इसी अर्थ में पुरुषार्थ व्यवस्था में अर्थ को पुरुष के एक प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। 3. अर्थ से आशय इन्द्रियों के विषय से भी है। जैसे–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। 4. अर्थ से तात्पर्य शारीरिक आवश्यकताओं के पूर्ति के साधन से भी लगाया गया है। धन सम्पत्ति आदि इसी अर्थ में 'अर्थ' है। फिलहाल हमारा मन्तव्य अर्थ के दूसरे तात्पर्य से है जो अर्थ को मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। 'अर्थ' इस अर्थ में मनुष्य का 'प्राप्य' अथवा 'गन्तव्य' है।[5]

व्यक्ति का गन्तव्य या प्राप्य क्या हो उसे सुनिश्चित कर पाना सरल नहीं है। दार्शनिक साहित्य में अर्थ की दो विधाएँ बतायी गयी है– 1. प्रतीयमान और 2. वास्तविक।[6] प्रतीयमान अर्थ वस्तुतः मनुष्य के अपने अभिप्राय नहीं है। वे केवल प्रथम दृष्ट्या गन्तव्य सरीखे लगते हैं किन्तु वस्तुतः वे 'प्राप्य' नहीं होते। वे जो वास्तविक 'प्राप्य' है, जिन्हे मनुष्य के सच्चे गन्तव्यों के रूप में समझा जा सकता है, वे ही वास्तविक अर्थ कहलाते है।

कठोपनिषद् में दार्शनिक विवेचना 'श्रेय' और 'प्रेय' के अन्तर से आरम्भ होती है। उपनिषद् के अनुसार श्रेय और प्रेय ये दोनों अलग–अलग वस्तुएँ है और दोनों ही पुरुष को बाँधती है। किन्तु वे पुरुष को भिन्न–भिन्न विषयों से बाँधती है। इनमें से जो श्रेय को चुनता है उसका कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण

करता है, वह अपने प्रयोजन को पाने में असफल रहता है। प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य को प्राप्त है। बुद्धिमान मनुष्य दोनों की परीक्षा करता है और प्रेय के वजाय श्रेय को चुनता है किन्तु एक मूर्ख जो अपनी इच्छाओं के वश में रहता है 'श्रेय' की अपेक्षा 'प्रेय' का वरण करता है।[7]

एस0के0 मित्र ने श्रेय और प्रेय का अन्तर मूलतः 'मूल्य' और 'तथ्य' का अन्तर माना है। उनके अनुसार श्रेय वस्तुतः मूल्य का ही एक सामान्य नाम है। इसी प्रकार श्रेय का अर्थ भी केवल वह जो प्रिय अथवा सुखद है, से नहीं लगाना चाहिए। इससे आशय वह सब जो ऐन्द्रिय है, अथवा तथ्यात्मक है, से लिया जाना चाहिए। पुनः मित्र ने श्रेय का अर्थ केवल 'नैतिक शुभ' से ही नहीं लिया है। यह उनके अनुसार बहुत कुछ प्लेटों के दर्शन में 'शुभ के प्रत्यय' के समान है।[8]

भारतीय दर्शन में मूल्यों का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ है। एक व्यवस्था के अनुसार मूल्यों के तीन वर्ग बताए गए है। इसे 'त्रिवर्ग' कहा गया है। इस मोटे तौर पर नैतिक मूल्य (धर्म), आर्थिक मूल्य (अर्थ) और मनोवैज्ञानिक या सुखवादी मूल्य (काम) आते हैं। यह वर्गीकरण ऐतिहासिक रूप से पहला वर्गीकरण है। औपनिषदिक काल में इसमें चौथा मूल्य " मोक्ष" जोड़ दिया गया और इस प्रकार त्रिवर्ग, "चतुवर्ग" हो गया। मूल्यों के इस चतुवर्ग को प्रायः पुरुषार्थ, कहा गया है। लेकिन त्रिवर्ग ऐतिहासिक रूप से 'पुरुषार्थ' व्यवस्था से पहले का मूल्य वर्गीकरण है।

जैसा नाम से ही स्पष्ट है कि 'त्रिवर्ग' जीवन–मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित करता है– धर्म, अर्थ और काम। धर्म के अन्तर्गत मोटे तौर पर सभी नैतिक मूल्य आ जाते है। 'अर्थ' के अन्तर्गत आर्थिक और राजनैतिक मूल्य रखे जा सकते हैं तथा 'काम' वर्ग में सभी मनोवैज्ञानिक मूल्यों का समावेश किया जा सकता है। काम को अपने आप में मूल्यवान माना जा सकता है? त्रिवर्ग के अनुसार ऐसा मानना गलत होगा। अर्थ और काम अपने आप में मूल्यवान नहीं कहे जा सकते। अर्थ का आशय अर्थोपार्जन से है, भौतिक साधनों की प्राप्ति से है। प्रश्न है कि अर्थोपार्जन क्या किसी भी अमर्यादित रूप से किया जा सकता है?स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति यदि उसकी मानसिक विकृत न हो गयी हो अर्थोपार्जन केवल अर्थोपार्जन के लिए नहीं करता। वह किसी अन्य उद्देश्य या इच्छा की पूर्ति या सुख प्राप्ति हेतु करता है। संक्षेप में अर्थोपार्जन अपने आप में मूल्यवान नहीं है यदि उसे अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए न अपनाया गया हो। उद्देश्य यदि मूल्यावान है तो अर्थ भी मूल्यावान हो जाता है अन्यथा नहीं।

त्रिवर्ग के अनुसार धर्म ही अर्थ को मूल्यावन बना सकता है। धर्मानुसार अर्जित और धर्मानुसार व्यय किया हुआ अर्थ ही मूल्यवान होता है। धर्म जब तक अर्थ को मर्यादित नहीं करता उसे नियमित नहीं करता, उसके लक्ष्य को धर्मानुसार निर्धारित नहीं करता अर्थ मूल्यवत्ता प्राप्त नहीं करता। धर्म का कार्य मुख्यतः नियमन हैं यह वह नैतिक नियम है जो अर्थ और काम को नियंत्रित और नियमित कर उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है। अर्थ और काम जो धर्म विरूद्ध नहीं होते, सिर्फ वे ही मूल्यवान कहे जा सकते हैं। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है मैं 'काम' हूँ जो धर्म विरूद्ध नहीं है।[9]

अर्थ की ही तरह काम भी धर्म विरूद्ध नहीं होना चाहिए, तभी वह मूल्य है। यदि काम को धर्म मर्यादित न करे तो यह आत्मघाती हो जाता है और एक विमूल्य बन जाता है। मनुष्य की असीमित इच्छाओं को पूरा नहीं किया जा सकता और जो कुछ इच्छाएँ संतुष्ट हो भी जाती है तो उससे स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतः यह आवश्यक है कि धर्म अपनी–नियामक भूमिका निभाकर काम को सीमित, नियमित और मर्यादित करे। धर्मानुसार न रहने पर काम की मूल्यक्त स्वतः समाप्त हो जाती है।

वैसे अर्थ की तुलना में काम एक बेहतर स्थिति में हैं। अर्थ की मूल्यवत्ता इसी में है कि वह किसी मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो। लेकिन काम के संदर्भ में क्यों और किसके लिए जैसे प्रश्न नहीं किए जा सकते जैसे कि अर्थ के सम्बन्ध में किया जाता है। उदाहरण के लिये हम यह नहीं पूछ सकते कि सन्तुष्टि जो भोजन करने से हमें प्राप्त होती है, क्यों चाहते हैं। काम का आशय सुख से है और इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि हम सुख क्यों चाहते हैं। जबकि हम अर्थ क्यों चाहते हैं ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। अर्थ से काम सिद्ध होता है लेकिन काम से क्या सिद्ध होता है, यह प्रश्न अर्थहीन है।[10] अर्थ और काम इस प्रकार परतः और स्वतः मूल्य के रूप में एक दूसरे से संबंधित हैं। काम स्वतः मूल्य है और अर्थ स्वतः न होकर परतः मूल्य है।

सांख्यकारिका में स्वतः और परतः मूल्यों के अन्तर को एक अन्य रूप से भी प्रस्तुत किया गया है। परतः मूल्य (आर्थिक मूल्य) 'अनैकान्तिक' होते हैं। वे असंख्य हैं। कामनाओं की संतुष्टि अनेक साधन से हो सकते हैं। और इन साधन मूल्यों में कोई सुनिश्चितता नहीं है कि वे उस उद्देश्य की प्राप्ति करवा ही देंगे जिसके लिए उन्हें अपनाया जा रहा है। इतना ही नहीं जो साधन एक व्यक्ति के लिए उपर्युक्त है, वह दूसरे के लिए भी हो, या उसी व्यक्ति के लिए किसी अन्य समय में भी उपयुक्त हो। इसके अतिरिक्त यदि वह साधन रूप में सफल भी हो जाता तो उससे प्राप्त संतुष्टि अंतरिम ही होती है और देर सबेर एक दूसरी कामना को जन्म देती है, जिसके लिए किसी अन्य साधन की

आवश्यकता पड़ती है। परतः मूल्य इस प्रकार अनैकान्तिक होते हैं, किन्तु परत मूल्य अनैकान्तिक हैं तो स्वतः मूल्य (काम) 'अनात्यन्तिक' हैं। उनकी पूर्ण संतुष्टि कभी संभव नहीं होती। उनसे प्राप्त संतुष्टि केवल मनोवैज्ञानिक है आत्मिक नहीं। वे आत्मिक सुख संतोष न देकर क्षणिक संतोष देते हैं।[11]

अतः भारतीय दर्शन में एक स्वतः मूल्य होने के बावजूद भी काम की मूल्यवत्ता केवल सीमित ही है। इसलिए त्रिवर्ग में यद्यपि काम को एक मूल्य अवश्य स्वीकार किया गया है किन्तु, वह केवल उस हद तक भूल्यवान है, जिस हद तक वह धर्म से मर्यादित है। अर्थ और काम दोनों ही धर्मानुकूल होने पर ही मूल्य कहे जा सकते हैं, अन्यथा वे विमूल्य हो जाते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि अर्थ और काम अपने–अपने वर्ग मूल्यों के स्वतन्त्र वर्ग नहीं है। दोनों में धर्म जब प्रवेश पाता है तभी वे मूल्यवान हो पाते हैं। त्रिवर्ग व्यवस्था इस प्रकार तीनों की अलग–अलग पहचान बनाए रखते हुए भी उन्हें पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं छोड़ देती। जहाँ एक और अर्थ और काम दोनों में ही धर्म का प्रवेश है वही अर्थ और काम के बिना धर्म भी रिक्त है। धर्म का कार्य नियमित और मर्यादित करने का है। नियमित नियंत्रित रहने के लिए कोई वस्तु चाहिए, कोई उपादान चाहिए। बिना उपादान के धर्म केवल एक रीता प्रत्यय मात्र है। धर्म की इस प्रत्यात्मक रिक्तता को अर्थ और काम ही भरते हैं और इस प्रकार उसे एक 'मूर्त्त प्रत्यय' बनते हैं। तभी धर्म सार्थक होता है और एक मूल्य की कोटि प्राप्त करता है। अतः अर्थ और काम यदि अपनी मूल्यवत्ता के लिए धर्म पर आधारित है तो धर्म भी अपनी सार्थकता के लिए अर्थ और काम पर आश्रित है।

इस प्रकार देखते हैं कि धर्म, अर्थ और काम तीनों ही एक दूसरे पर निर्भर और आश्रित है। एक और अर्थ और काम, धर्म को मूर्त्तता प्रदान करके उसे मूल्यवान बनाते हैं तो दूसरी ओर अर्थ और काम को नियमित, मर्यादित कर धर्म उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है तीनों में संतुलन बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। इनकी अलग–अलग पहचान होते हुए एक ही 'त्रिवर्ग' है। त्रिवर्ग के संबंध में यह भी प्रश्न किया जाता रहा है कि तीनों में कौन प्रधान है? सन्दर्भ और परिस्थिति के अनुसार, कभी धर्म, कभी अर्थ तो कभी काम को प्रधान माना गया है। लेकिन अन्ततोगत्वा कुल मिलकार सदैव निष्कर्ष यही निकाला गया है कि तीनों का संतुलित सेवन अर्थात् 'त्रिवर्ग' ही प्रधान है। 'त्रिवर्ग' समग्र एकता की ओर संकेत करती है, वही मूल्य है, श्रेयस है। मनुस्मृति में कहा गया है " कुछ लोग कहते हैं कि धर्म और अर्थ श्रेयस है, कुछ अन्य के अनुसार काम और अर्थ श्रेयस है और कुछ ऐसे भी हैं जो केवल धर्म या केवल अर्थ को श्रेयस मानते हैं। लेकिन वस्तुतः त्रिवर्ग ही श्रेयस है।[12] धीरेन्द्र मोहन दत्त कहते है कि भारतीय सामाजिक चिन्तन का यह एक सन्तुलित सुनहरा धर्म मार्ग है। जो एक ओर ऐकान्तिक सुखवाद (काम और अर्थ) और दूसरी ओर एकपक्षीय तपश्चर्या (धर्म) को अस्वीकार करता है।[13]

कामसूत्र में भी प्रकारान्तर से हमें त्रिवर्ग मूल्यात्मक होने संबंधी एक अच्छी व्याख्या मिलती है। वात्स्यायन कहते हैं कि, मनुष्य, जिसकी सामान्य जीवन अवधि सौ वर्ष है, अपने समय का इस प्रकार विभाजन करना चाहिए और त्रिवर्ग का कुछ इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि त्रिवर्ग के सभी वर्ग एक दूसरे से आबद्ध रहे और परस्पर उपघातक न हो।[14] त्रिवर्ग व्यवस्था में इस प्रकार मूल्यों में संगति या संतुलन को ही मूल्य का अन्तिम मानदण्ड माना गया है। मूल्यों का मूल्य इसी में है कि वे परस्पर उपघातक न हो और एक–दूसरे से अनुबद्ध रहे। 'त्रिवर्ग' अन्ततः इसी दिशा की ओर संकेत करता है।[15]

त्रिवर्ग में तीनों वर्गों की अलग–अलग पहचान है, फिर वे एक दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। धर्म का प्रवेश अर्थ और काम में उन्हें मूल्यवता प्रदान करने के लिए आवश्यक है और अर्थ तथा काम यदि धर्म के उपादान न हों तो धर्म निरर्थक हो जाता है। ऐसे में क्या धर्म, अर्थ और काम में मूल्यवत्ता की दृष्टि से कोई स्तरीय भेद हो सकता है? स्पष्टतः धर्म सर्वोच्च मूल्य है। वह सर्वाधिक एषणीय है– 'श्रेय वर्ग इति तु स्थितिः'। काम और अर्थ, धर्म के विरूद्ध हो तो वे एषणीय न हो कर अनैतिक हो जाते हैं। अर्थ और काम धर्मानुसार रहकर मानो अपना अभीष्ट धर्म की ही सिद्धि बना लेते हैं। धर्म पालन इस प्रकार एक ऐसा स्वतः मूल्य हो जाता है जिसका उद्देश्य कोई अन्य और उससे पृथक फल–प्राप्ति नहीं होता।

वैसे तो काम भी स्वतः मूल्य है क्योंकि सुख, सुख के लिए ही काम्य है। लेकिन काम सुख की अपनी सीमाएँ है। वह क्षणिक है, और अनंत दुःखदायी है, किन्तु काम और अर्थ जब धर्म से संयुक्त होते है तो मनुष्य इहलोक और परलोक में जो सुख प्राप्त करता है वह 'निःशल्य' और 'अत्यन्त' है।[16]

पुनः धर्म को यदि हम स्वतः मूल्य न भी माने तो भी साधन मूल्य के रूप में भी उसकी स्थिति सर्वोच्च मानी जा सकती है। ऐसे में धर्म के मूल्य उसके कल्याणकारी होने में है। धर्म से ही अर्थ और काम उत्पन्न होते हैं। यही बात रामायण में भी कही गयी है। वहां बताया गया है कि धर्म से अर्थ और सुख उपलब्ध होता है।[17] साधन मूल्य के रूप में, इस प्रकार धर्म का साध्य स्वयं 'त्रिवर्ग' है क्योंकि धर्म ही अर्थ और काम को मर्यादित कर मूल्यों में परस्पर समन्वय स्थापित कर उन्हें इस प्रकार सेवन योग्य बनाता है कि वे परस्पर धातक न हो।

निष्कर्षतः 'त्रिवर्ग' मूल्यों की एक समग्रता की ओर संकेत करता है। इसमें जीवन के किसी पक्ष को अस्वीकार नहीं किया

गया है, बल्कि एक समावेशित समग्रता (त्रिवर्ग)में सभी को सम्मिलित कर लिया गया है। इतना अवश्य है कि यदि किसी भी एक अकेले मूल्य को 'स्वतः मूल्य' की तरह सेवन किया जाए और इस प्रकार अन्य सभी मूल्यों को बहिष्कृत कर दिया जाय तो स्पष्ट ही वह मूल्य, मूल्य न रहकर विमूल्य हो जाएगा किन्तु यदि अन्य मूल्यों में से समन्वित और संयोजित कर सभी मूल्यों को संतुलित रूप में सेवन किया जाय तो वर्गीकृत मूल्यों का चरित्र मूल्यगत रूप से ऋणात्मक न रहकर धनात्मक हो जायेगा।

संदर्भ :

1. हिरियन्ना, एम, द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन, मैसूर, 1952, पृ0 101
2. अण्टो ताहितिनेन, इण्डियन फिलॉसफी ऑफ वैल्यू, तुर्कू 1968, पृ. 49
3. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, मूल्यमीमांसा, जयपुर, 1973, पृ. 54
4. कामसूत्र 1/2/39
5. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, मूल्यमीमांसा, जयपुर, 1973, पृ. 5
6. वही, पृ.5
7. कठोपनिषद्

अन्यच्छेयाऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् यद् प्रेयोवृणीते।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धिरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। 1/2/1–2

8. मैत्र, एस.के., द स्पिरिट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, वाराणसी, 1947, पृ. 177–181
9. गीता, धर्मविरूद्धो कामोऽस्मि, 7/11
10. हिरियन्ना, एम, द क्वेस्ट आफ्टर परफैक्शन, मैसूर, 1952, पृ0 102
11. वही, पृ.23
12. मनुस्मृति 2/224

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कार्मार्थौ धर्म एव च।

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।

13. दत्त, धीरेन्द्र मोहन, सम फिलॉसफिकल आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन पोलिटिकल, लीगल एण्ड इकॉनॉमिक थॉट निबंध।
14. कामसूत्र, शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं।

परस्पर स्यानुपघातकं त्रिवर्ग सेवेत ।।1/2!1

15. अण्टो ताहतिनेन, इण्डियन फिलॉसफी ऑफ वैल्यू, पृ. 16
16. कामसूत्र, एवमर्थ च कामं च धर्मं चोपचरन्नरः

इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते।।1/2/39

17. रामायण, 3/9/30

धर्मादर्थ : प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।।

❖❖❖

वैदिक संहिताओं में नारी

बृजेश कुमार यादव

शोध छात्र– संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भारतीय सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट प्राचीनतम काल वैदिक संहिता काल माना गया है। इस काल को यदि सम्पूर्ण संसार की सभ्यता का श्रेष्ठतम् युग कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। संहिता साहित्य में समाज के अभ्युत्थान उत्कर्ष प्रेयस एवं निःश्रेयस में पुरुष वर्ग तथा नारी का योगदान समान रूप से रहा है। समानता के इस अधिकार को देखते हुए सहज में ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक संहिताओं के समय बिना भेदभाव के समाज में पुरुष और नारी को आगे बढ़ने का अधिकार प्राप्त था। इस युग में हमारे पूर्वजों की यह मान्यता रही है कि जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष (परमात्मा) कार्य अपूर्ण रहता है, ठीक उसी प्रकार नारी के बिना नर का जीवन भी अधूरा है।

सृष्टि का श्रीगणेश नारी एवं पुरूष दोनों के पारम्परिक गुणो के आधार पर ही माना गया है। बिना एक के दूसरे की स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। समूचा वैदिक संहिता साहित्य नारी के विविध रंगों में रंगा पड़ा है। श्रद्धा की प्रतीक रूपा नारी पुरूष समाज के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर सामाजिक, राजनैतिक,धार्मिक आर्थिक एवं

बौद्धिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अपाला, घोषा, अदिति, लोपामुद्रा, सरमा, वाक्, शची, गार्गी, देवयानी इत्यादि प्रमुख वैदिक विदुषियों के उदाहरण मिलते है। समाज में नारी को जो स्थान मिला है, वह उसकी साधना, सत्यता, सहनशीलता, सौम्यता, शौष्ठवता आदि सहज गुणों का ही फल है। धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के रूप में, बलदायिनी दुर्गा के रूप में तथा ज्ञानदायिनी माँ सरस्वती के रूप में नारी का समाज में सदा स्वागत एवं सम्मान रहा है।

नृ अथवा नर से बना नारी शब्द का प्रयोग बहुतायत रूप में हुआ है जिकसा फल है कि संहिताकाल के परवर्ती वांग्मय में नारी शब्द चर्चा का मुख्य विषय बन गया है। निःसन्देह यजुः संहिता में यह बहुत ही कम प्रयोग हुआ है। साम संहिता में तो इसका प्रयोग हुआ ही नहीं है। अथर्व संहिता में 'नारी' और 'नारि' दोनों पदों का सात–सात बार प्रयोग हुआ है।

नृ+अन्+ङीन् – नारी अथवा नर+ङीष् नारी, इन दोनों व्युत्पत्तियों को महाभाष्यकार महार्षि पतंजलि ने ठीक मानते हुए **"नुर्धर्म्यानारी नरस्यापि नारी"** (महाभाष्य 4/4/9) का महत्व प्रतिपादित किया है। ऋक् संहिता (7/20/05; 8/77/8; 10/18/7; 10/86/10–11) में नृ से बने नर और नारी का प्रयोग वीरता का कार्य करने, नेतृत्व करने, यज्ञ करने, अतिथियों का स्वागत करने तथा युद्ध में अपने पति के साथ जाने का वृत्तान्त उपलब्ध होता है।

वेद माता (सरस्वती) के मन्दिर में प्रवेश पाने का संहिता काल में सभी को समान अधिकार था। पुत्रों की तरह कन्या की शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था। गुरूओं के आश्रम में रहकर बालकों की भाँति कन्यायें भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई यज्ञोपवीत मौंजी मेखला और वल्कल धारण करती थी।

"पुरा कल्पे कुमारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा।।

(अथर्वसंहिता 1/5/3)

ऋक् – यजुः अथर्व संहिताओं में ब्रह्मचारिणियों का उल्लेख है। अथर्व संहिता में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर शिक्षा समाप्त करने वाली कन्यायें योग्य पतियों को प्राप्त करती हैं। ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्वसंहिता 1/9/16)।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त कन्यायें गणित, वैद्यक, संगीत, नृत्य और शिल्प आदि का भी अध्ययन करती थी। ऋक् संहिता (1/9/2–4) में कन्याओं के नृत्य कौशल के संकेत मिलते हैं। जो छात्राएं अधिक से अधिक संहिताओं के मन्त्रों की पंडिता होती थीं, उन्हें वह्वृची की उपाधि दी जाती थी। पाणिनि के अनुसार यजुः संहिता की कठ शाखा का अध्ययन करने वाली छात्रा को कठि कहा जाता था।

क्षत्रिय कन्यायें धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या की भी शिक्षा लेती थी। इसकी पुष्टि घोषा द्वारा रचित ऋक् संहिता दशम् मण्डल के 39वें और 40वें सूक्त से होती है। जिसमें 'वधिमती' और विष्पका नामक दो महिला योद्धाओ की चर्चा है। ऋक् संहिता (5/61/6,9) में स्त्री योद्धा शशोयती का वर्णन तथा ऋक् संहिता (1/32/9) में वृत्रासुर की माता दनु का वर्णन है, जिसने युद्ध में भाग लिया और युद्ध में इन्द्र के हाथों वीरगति को प्राप्त हुई। राजा मुद्गल और मुद्गलानी का उल्लेख ऋक् संहिता में है। मुद्गलानी युद्ध में अपने पति मुद्गल के रथ को चलाती है और विभिन्न कठिनाइयों के बाद अपने पति को युद्ध में विजय दिलाने में सहायता करती है। नारी समाज को वेद मन्त्रों के अध्ययन से विरत रखने वाला आजका पण्डिमानी जो चाहे तर्क दे, किन्तु वैदिक युग पुकार–पुकार कर कह रहा है– "वेद पढ़ने का स्त्री को समान अधिकार है। वेद के अध्ययन हेतु उपनयन के अधिकार से भी नारी वंचित न थी।"

'देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेषुः।
भीमा जाया ब्रह्मणस्योपनीता दुर्धा दधाति परमे व्योमना।।'

ऋक् सं0 10/109/4

उपर्युक्त विवरणों से पता चलता है कि वैदिक संहिता काल में कन्याएं बालकों की तरह ही अपना और परा विद्याओं में निष्णात होती थीं। उस समय पुरूषों की तरह नारियां भी अध्यापन कार्य कराते हुए अध्यापिका, उपाध्याया, उपाध्यायी एवं आचार्या कहलाती थीं। वैदिक संहिताओं से हमारे देश में विवाह को एक पवित्र संस्कार माना गया है। वृहक संहिता (10/85) के अनुसार उस समय विवाह का पूर्ण विकास हो चुका था। नारी पूरी गृहस्थी की केन्द्र बिन्दु मानी जाती थी। गृहणी ही घर थी, उसके बिना घर की कल्पना करना ही व्यर्थ समझा जाता था। सर्वाधिक महत्व की बात तो यह है कि उस समय प्रकृति माँ की गोंद में स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनयापन करती हुई कन्या अपने जीवन साथी को चुनने में पूर्ण स्वतन्त्र थी। संहिता काल में बाल विवाह, दहेज प्रथा एवं सती प्रथा का अभाव था। अन्तर्जातीय विवाह एवं पुनर्विवाह (विधवा विवाह) का प्रचलन था। इस युग में पर्दा प्रथा का न कही नाम था और न कहीं प्रचलन।

वीरवती, पुत्रवती सौभाग्यवती बनी संहिता कालीन नारी अपने पति के कदम से कदम मिलाकर अपनी गृहस्थी को स्वर्ग बनाने के लिए तत्पर रहती थी। दूसरी ओर पुरूष भी अपनी पत्नी को सहचरी, सहधर्मिणी मानकर उसका सम्मान बढ़ाते हुए जीवन ज्योति को सदा प्रज्जवलित रखने में अपना पुरूषत्व मानता था।

काश! आज का समाज भी वैदिक संहिताओं का संदेश सुनता और जीवन को सुखद बनाने के लिए नर–नारी को समाज की उन्नति में सहभागी मानता। दहेज जैसे दानवी दानवृत्ति से विरत होकर अपनी बेटी–बेटे और बहुरानी में समदर्शी बनने का प्रयास करता।

नारी इस शब्द में स्नेह, वात्सल्य, ममता, त्याग, अनुराग आदि कितने भाव निहित हैं, जिनका सही रूप से मूल्यांकन कर पाना भाषा के सामर्थ्य के बाहर प्रतीत होता है। पारिवारिक रिश्तों के लिए अतीत काल में जब संज्ञाओं का सृजन हुआ होगा तब शायद माँ शब्द ही सर्वप्रथम निकला होगा। उसी का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जब कोई शिशु या प्रौढ़ अपने मुख से माँ या अम्मा कहता है तो माँ निहाल हो जाती है। मातृत्व स्वयं में एक महान देन है। मातृत्व विहीन नारी का जीवन अधूरा है।

संहिताओं में आया मातृ शब्द केवल जन्म देने वाली नारी तक ही सीमित नहीं है, क्योंकि वहाँ नदी, अंतरिक्ष, जल एवं पृथ्वी की व्यापकता को सूचित करने वाला बन गया है। इस व्यापकता की परिधि में परिक्रमा करता हुआ मातृ शब्द निःसन्देह पवित्रता की पराकाष्ठा को छू लेता है। हमारे वैयाकरणों ने मातृ शब्द का मान+तृचा प्रत्यय से निष्पन्न करने का प्रयास किया है, जिसका सीधा अर्थ है– आदरणीया। महर्षि यास्क ने अपने निर्वचन में मातृ शब्द को निर्मात्री के रूप में देखा है, जो वस्तुतः सही है क्योंकि अपनी संतति के निर्माण के माध्यम से माता पूरे देश जाति तथा समाज का निर्माण करती है। ऋक् संहिता में माता के दर्शन की आकुलता का स्पष्ट उल्लेख है जिससे उसके सर्वाधिक घनिष्ठ और प्रिय सम्बन्ध का पता चलता है। परमात्मा को पिता करने की अपेक्षा माता कहने में भक्त को अधिक संतोष मिलता है। **'त्वं हि नः पितावसो त्वं माता–शतकृतो बभूविथ** (ऋ0 9/98/1)। अथर्वसंहिता में कहा गया है कि माता अपने अमृत तुल्य दूध से पुत्र का पालन पोषण करती थी।' **माता पुत्रं यथा सिंचाम्येनं भूम ऊर्णुहि।** (अथर्व सं0 8/3/30)। यजुःसंहिता में माता की तुलना जल से की है– **आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु।** (यजु0 4/2)। यजु. संहिता में माता की आज्ञा एवं सोमक्रयणी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि – अपने दर्शन के फलस्वरूप हमें श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति हो। **वीरं विदय तव देविं सन्दृशि।** यजु. 4/23। यह सच है कि माता के मुस्कान के समक्ष मोक्ष नगण्य है। मातृ शक्ति ही सृष्टि का सृजन करती है। इसके प्यार में पृथ्वी पलती है और इसका पराभव ही प्रलय का सूचक है।

नारी को नर की तुलना में श्रेष्ठ मानते हुए मैत्रायणी संहिता में कहा गया है– स्त्रियः पुसोऽतिरिच्यन्ते (4/7/6)। अर्थात् कुलीना नारियां पुरूषों से बढ़कर है। काठक संहिता (30/1) में भी उपर्युक्त कथन का समर्थन किया गया है। वैदिक संहिताओं में नर की तुलना में नारी के सौभाग्य का अधिक वर्णन हुआ है। जिसकी पुष्टि यम–यमी संवाद सूक्त (ऋ0 10/10/10) पाणि–सरमा संवाद सूक्त (ऋ0 10/108/5) सूर्या विवाह सूक्त (10/85/36) एवं अथर्व संहिता से (14/1/50); में आये वर्णनों से होती हैं।

नारी को वैदिक संहिता कालीन गौरव मिलने से ही राष्ट्र, जाति और समाज का हित है क्योंकि यह नारी ही है जो परामर्श के समय नर को एक सुयोग्य मन्त्री की तरह मन्त्रणा देने में सक्षम है। अन्त में हम नारी शिरोमणि माता सरस्वती से प्रार्थना करते हैं कि – "हे ज्ञान–दायिनी माता सरस्वती! सहृदय हृदय होकर आप हमें अपने ज्ञान सागर की तरल–तरंगों से तरंगित करें जिससे हम एक बार फिर भारत माता की सन्तान की खाली झोली का 'नारी सदा पुण्य राशि है' की भावना से भरकर भारत को भा–रत बनाने के सत्संकल्प को साकार रूप दे सकने में समर्थ हो सकें।" (ऋ0 1/3/12)।

❖❖❖

वेदों में जल का वैज्ञानिक प्रयोग

राकेश कुमार तिवारी
शोध छात्र– संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध

वेद हमारी संस्कृति के मूल स्रोत हैं यह हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुँचाने वाले ग्रन्थ रत्न हैं। वेदो का सर्वाधिक धार्मिक एवं वैज्ञानिक महत्व हैं । इसमें विज्ञान के विविध पक्षों का उल्लेख प्राप्त हैं । भारतीय पदार्थ विज्ञान के प्रणेता महर्षि कणाद ने तो वैशेषिक दर्शन मे इस विज्ञान को ही धर्म कहा है और इस धर्म से न केवल सांसारिक अभ्युदय बल्कि निःश्रेयस की सिद्धि तक संभव बताई हैं और वेद को प्रमाण ही इसलिए माना गया है कि उनमें पदार्थो के गुणों का वर्णन हैं । प्रस्तुत शोध पत्र में वेदों मे जल विज्ञान के कुछ महत्तवपूर्ण तथ्य उल्लिखित हैं । तत्तवेत्ताओं ने मनुष्य के शरीर को भी पंच तत्तवों से निर्मित कहा है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश । मनुष्य शरीर का 2/3 भाग और उसके सम्पूर्ण भार का 4/5 भाग जल होता हैं, पृथ्वी तल के 3/4 भाग में जल ही है। सभी पेड़ पौधों और जीव जन्तुओ के शरीर में जल रहता है। रक्त का 92 प्रतिशत मांसपेशियों का 75 प्रतिशत हड्डियों का 22 प्रतिशत जल होता है । वेदों में भी जल विज्ञान के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं इनमें जल की उत्पत्ति, जल का महत्त्व, जल के गुण, जल के भेद, जल से सृष्टि, विविध धातुएँ, उनका मिश्रण, उनके विविध उपयोग, लवण, जल और रत्नों का औषधि के रूप में उपयोग आदि का वर्णन मिलता है।

अथर्ववेद में उल्लिखित है कि जल में अग्नि और सोम दोनों हैं।

अग्निषोमौ विभ्रति– आत इत् ताः। (अथर्व0 3.13.5)

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वेदों में अग्नि, मित्र, वैश्वनार अग्नि और मातरिश्वा आदि शब्द ऑक्सीजन के लिए तथा सोम, जल, आप; सलिल, वरूण आदि शब्द हाइड्रोजन के लिए प्रयोग हुए है। अथर्ववेद में कहा गया है कि जल में मतरिश्वा वायु प्रविष्ट है।

अप्सु–आसीन् मातरिश्वा प्रविष्टः। (अथर्व0 10.8.40)

ऋग्वेद में स्पष्ट है कि जल में वैश्वानर अग्नि विद्यमान है।

वैश्वानरो यासु–अग्निः प्रविष्टः, ता आपः। (ऋ0 7.49.4)

विज्ञान के अनुसार हाइड्रोजन गैस के दो अणु और ऑक्सीजन का एक अणु मिलने पर जल प्राप्त होता है इसका सूत्र भी H_2O है। ऋग्वेद में भी जल का सूत्र दिया गया है कि मित्र और वरूण के संयोग से जल प्राप्त होता है। लेकिन इसकी मात्रा का स्पष्ट संकेत नहीं है।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरूणं च रिशादसम्।
धियं घृतायां साधन्ता। (ऋग0 1.2.7)

इस विषय को ऋग्वेद में (7.33.10 से 13) में स्पष्ट किया गया है।[1] अंतरिक्ष में जल की उत्पत्ति का क्रम सदैव गतिमान रहता है, इसी द्वारा वृष्टि होती है यजुर्वेद में यह स्पष्ट किया गया है कि समुद्र आदि का जल किस प्रकार भाप बनकर वायु के द्वारा ऊपर आकाश में जाता है। मित्र और वरूण का विद्युत के साथ सम्पर्क होने पर बादल बनते हैं और उनसे वृष्टि होती है।

मित्रावरूणौ त्वा वृष्ट्यावताम्।(यजु0 2.16)

मित्र और वरूण का सम्पर्क न हो तो बादल नहीं बनेंगे और न वृष्टि होगी।[2]

यजुर्वेद में बादलों को जल का सूक्ष्म रूप कहा गया है।

अभ्रं वा अपां भस्म।

जल द्वारा सभी रोगों का इलाज होता है। यहाँ तक कि यह आनुवंशिक रोगों को भी नष्ट करता है।[3] अथर्ववेद में सूर्य के धूप में जल सेवन को कल्याणकारी बताया गया है।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वय ओषधीः शिवाः। (अथर्व0 6.23.3)

प्रातःकाल जल सेवन से अजीर्ण ठीक हो जाता है। शरीर की गर्मी निकालने में भी जल अद्भूत है।

अजीर्ण भेषजं वारि।
जीर्णे वारि बल प्रदम्।।[4]

अथर्ववेद में शरीर विज्ञान की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात कहीं गयी है कि शरीर में आठ प्रकार का जल है अर्थात् शरीर की सात धातुएं एवं गर्भ अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, वीर्य और गर्भ ये सभी जल के विभिन्न रूप हैं।[5] वेदों में जल के विभिन्न आश्रय बताये गये हैं। प्राप्ति स्थान के आधार पर इनके भेदों का उल्लेख किया गया है–[6]

1. धन्वन्य – रेतीले प्रदेश से प्राप्त होता है।
2. अनूप्य – गड्ढे वाले स्थानों से प्राप्त जल।
3. खनित्रिम– खोदे हुए कुएं आदि का जल।
4. वार्षिक या वर्ष्य – वर्षा का जल।
5. हैमवत – हिमालय पर्वत से निकली नदियों का जल।
6. उत्स्य– स्रोतों से निकलने वाला जल।
7. सनिष्यद – निरन्तर बहने वाला जल।
8. सैन्धव – नदियों से प्राप्त होने वाला जल।
9. समुद्रिय– समुद्र से प्राप्त होने वाला जल।

इन जलों में वर्षा का जल अत्युत्तम और शतवृष्य अर्थात् सौगुनी शक्ति वाला बताया गया है।

पर्जन्यं शतवृष्यम्। (अथर्व0 1.3.1)

ऋग्वेद में वर्णन है कि जल में सभी देवों का निवास है। अतः जल देवालय है। जल में देवों को सदा तैयार कहा गया है।

यद् देवा अदः सलिले, सुसंरब्धा अतिष्ठत। (ऋग0 10. 72.6)

इससे स्पष्ट होता है कि जल में जो जब चाहे परीक्षण कर सकता है और यह भी ज्ञात होता है कि जल की प्रत्येक कणिका में छेद है। यदि जल ठोस होता तो उसमें चीनी या नमक प्रवेश नहीं हो पाता।

जल अखण्ड, अविभाज्य वस्तु नहीं है। इसी प्रकार सोना भी अखण्ड नहीं है। तपाने पर सोने के रेणु कांपते हैं। ऋग्वेद में रेणुओं के इस कम्पन को रेणुओं का नृत्य करना कहा गया है। प्रत्येक इलेक्ट्रान एक प्रकार से नृत्य कर रहा है। जल या सुवर्ण आदि को तपाने पर यह नृत्य देखने को मिलता है।

आत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत। (ऋग0 10.72. 6)

यजुर्वेद में जल के विराट रूप का वर्णन है। जल स्थूल और सूक्ष्म रूप में कहाँ–कहाँ विद्यमान है। और किस रूप में इन तत्त्वों को प्रभावित करता है, इन सबका निर्देश मिलता है।

अपां त्वेमन् सादयामि, अपां त्वोमन्। (यजु.13/53)

अथर्ववेद में जल के पाँच गुणों का वर्णन है।

आपो यद् वो तपः हरः अर्चिः, शोचिः, तेजः। (अथर्व0 2.23.1 से 5)

अर्थात् गर्म होना, दोष या मल दूर करना, रगड़ से विद्युत उत्पादन, प्रकाश देना और तेज, कान्ति, सौन्दर्य लावण्य और प्रसन्नता देना है।

ऋग्वेद में भी जल के तीन गुणों का उल्लेख किया गया है–

1. मधुश्चुतः – मधुरता देने वाला
2. शुचयः – दोषों को निकालकर स्वच्छता प्रदान करने वाले।
3. पावकाः– दोषों को जलाने, शुद्ध करने और पवित्रता प्रदान करने वाले।[7]

जल से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। इसमें स्पष्ट है कि जल में सबसे पहले सृष्टि का बीज पड़ा। सारे देवता जल में विद्यमान है–

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो
यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। (ऋग0 10.82.06)

जल में सर्वप्रथम सृष्टि का बीज पड़ा यजुर्वेद का भी कथन है। ऋग्वेद में जल से अग्नि की उत्पत्ति का वर्णन है। अग्नि को जल का पुत्र कहा गया है और इसको पृथ्वी आदि के साथ रहने वाला बताया गया है।

अपां नपाद् यो वसुभिः सहप्रियः। (ऋग0 1.143.1)

ऋग्वेद में वर्णन है कि घर्षण या मन्थन से अग्नि उत्पन्न होती है।

त्वामग्ने पुष्करादधि–अथर्वा निरमन्थत।

अथर्वा पहले ऋषि थे जिन्होंने तालाब के जल से मन्थन की विधि से अग्नि उत्पन्न करने की विधि का आविष्कार किया था।

अथर्वा त्वा प्रथमों निरमन्थदग्ने। (यजु0 11.32)

अथर्ववेद का कथन है कि सूर्य की ऊर्जा का स्रोत सोम है। सोम से ही पृथ्वी का विस्तार होता है। नक्षत्रों में भी सोम विद्यमान है।[8] ऋग्वेद में संकेत है कि आकाशीय समुद्र में व्याप्त जल से सूर्य का जन्म हुआ है। इसका अभिप्राय है कि सूर्य आकाश में विद्यमान हाइड्रोजन के एकत्र होने से बना है।

अत्रा समुद्र आ गूढ़म् आ सूर्यम् अजभर्तन। (ऋग0 10.72.1)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वायु जल का आश्रय है। औषधियों में जल है। बादल में जल है। विद्युत में जल का प्रकाश है। पृथ्वी जल का आश्रय स्थान है। वाणी में सरसता और जीभ में आर्द्रता जल के कारण है। आँखों में तेज, दर्शनशक्ति जल के कारण है। मछली की तरह आँख भी जल की प्रेमी है। समुद्र जल का आधार है। जल के कारण ही पत्थर रेत के रूप में परिवर्तित होते हैं। अन्न का आधार जल है। इसलिए जल को अन्न का कारण कहा गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जल पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों स्थानों पर व्याप्त है और यह तीनों लोकों की स्थिति का आधार है। सब कुछ मिलाकर स्पष्ट है– "जल ही जीवन है।"

संदर्भ सूची–

1. विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रा वरूणा यदपश्यतां त्वा।
   तत ते जन्म–उतैकं वसिष्ठ अगस्त्यो।
   उतासि मैत्रावरूणो वसिष्ठः उर्वश्यां मनसोऽधि जातः।
   अप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः द्रप्सं स्कन्नं पुष्करे त्वाददन्त।
   कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
   ततो जातमाहुर्वसिष्ठम्।
2. मरूतां पृषतीर्गच्छ, वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ
   ततो नो वृष्टिमावह। यजु0 2.16
3. अथर्व– 3.7.5
4. डा0 रामेश्वर दयाल गुप्त, वैदिक वांग्मय में विज्ञान. पृ0 156।
5. अथर्व0 11.8.29 से 32।
6. अथर्व0 1.6.4, 19.2.1 व 1.4.3।
7. मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपः। ऋग0 7.49.3।
8. सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवीमही।
   अर्थो नक्षत्राणामेषाम् – उपस्थे सोम आहितः। अथर्व0 14.1.2।

❖❖❖

प्राचीन युग में पर्यावरण प्रबन्धन

शोध

मीरा मिश्रा
शोध छात्रा, संस्कृत विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

विश्व सभ्यता के क्षितिज पर आज जिस तरह से संसार वैनाशिक ज्वालामुखी की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा है, सर्वत्र आर्तनाद हो रहा है, बड़ी–बड़ी व्याधियां, झंझावात, भूकम्प आदि प्राकृतिक उपद्रव सामने आ रहे हैं। इससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि प्रकृति भी मानव सभ्यता का सर्वनाश करने हेतु तत्पर है। अतः प्रत्येक विचारक के लिए आवश्यक हो गया है कि वह पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाकर मानव सभ्यता की रक्षा करे। जैसाकि प्राचीन काल में ऋषि लोग तालाब, कुएं, बावलियों की प्रतिष्ठा, वृक्षारोपण तथा हवन आदि क्रियाओं द्वारा प्रकृति को अपने अनुकूल बनाकर, पर्यावरण को सुरक्षित रखते थे।

वर्तमान समय में पर्यावरण एक चर्चित शब्द है। पर्यावरण को कई शब्दों– वातावरण, परिवृत्त, आवोहवा और परिवेश आदि नामों से जाना जाता है। इनमें पर्यावरण को चारो तरफ का सुरक्षा कवच कहा गया है।

पर्यावरण संरक्षण का मानवीय चेतना का दर्शन हमें वेदों से लेकर पौराणिक संस्कृत वाङ्मय में भी प्राप्त होता है। प्रकृति के समस्त उपादानों को वैदिक ऋषियों ने देवत्व प्रदान किया था। पर्यावरण शुद्धि के लिए ही वैदिल काल में यज्ञ किये जाते थे। विविध प्रकार के यज्ञों के आयोजन से अग्नि में प्रक्षिप्त हवि सामग्री के प्रज्जवलन से तथा मंत्रों के उच्चारण से पर्यावरण को शुद्ध करते हैं। यज्ञ का धूम वायुमण्डल में जाकर बादलों का निर्माण करते हैं और वृष्टि होती है तथा अन्न और औषधियां उत्पन्न होती है। ऋग्वेद में कहा गया है कि– एक महान अतिव्यापक मोटी परत द्वारा जलीय वातावरण का नियन्त्रण होता है। जो हमारे वातावरण को शुद्ध करता है। यजुर्वेद में समस्त पर्यावरण को ऋतु पर ही निर्भर बताया गया है।

यत्पुरूषेण हविषादेवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मः इध्मः शरद्धविः।।

वेदोपवृंहण में तत्पर पुराण साहित्य में पर्यावरण सुरक्षा विषयक पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है। पौराणिक कथायें भी पर्यावरण शुद्धि में सहायक हैं। द्वापर में ब्रज की भूमि में बहने वाली यमुना नदी के जल को कालिया नाग ने अपने विष से अत्यन्त प्रदूषित कर दिया था। खेल–खेल में ही भगवान श्रीकृष्ण ने अकेले ही उसके फणों को नाथकर उसे जल से अलग किये तथा यमुना के जल को उपभोग लायक बनाये। अतः इसमें कालिया नाग प्रदूषण का पर्याय है। अग्निपुराण में वृक्षारोपण, जल संचयन, मिट्टी शुद्ध करने की प्रक्रिया, यज्ञ, यागादि तथा मंत्र शक्ति के माध्यम से पर्यावरण को शुद्ध करने का कारण बताया गया है।

वृक्षों से लोगों का भावनात्मक सम्बन्ध रहा है। समर्पित भाव से वृक्षों की पूजा, सेवा एवं संरक्षण किया जाता है। इससे प्रकृति को प्राणयुक्त धारा मानने की विचारधारा प्रस्फुटित होती है। इससे पर्यावरण अत्यन्त शुद्ध होता है। प्राचीन युग में वृक्षारोपण के लिए उचित समय, दिशा, चिकित्सा आदि वृक्ष विज्ञान की शिक्षा देकर पर्यावरण संरक्षण को स्पष्ट किया गया है। यथा–

सायं प्रातस्तुधर्मान्ते शीतकाले दिनान्तरे।
वर्षतौ भुवः शोषे सेक्तत्थारोपिताद्रुमाः।।

ग्रीष्म ऋतु में सायं एवं प्रातःकाल शीतऋतु में दिन में, तथा वर्षा ऋतु में रात्रि के समय वृक्ष लगाना उत्तम होता है। मालती, मल्लिका, यूथिका, गुलाब, कबेर, कुरंटक, कुब्जक, कदम्ब, वनमल्लिका, अशोक, तमाल आदि पौधे एवं वृक्ष लगाकर पर्यावरण को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। तुलसी का पौधा विशेष रूप से पर्यावरण को सुरक्षित रखता है। महाभारत में कहा गया है कि– जो वृक्ष लगाते हैं उनके लिये ये वृक्ष पुत्र रूप में होते हैं।

पर्यावरण को शुद्ध रखने में मंत्रों का अपना अलग ही महत्व है। ये मंत्र औषधि के समान होते हैं। ओंकार आदि मंत्र आयु देने वाले हैं तथा सब रोगों को दूर करके आरोग्यता भी प्रदान करने वाले हैं। यह पुराण लोगों को स्वच्छ वातावरण में जीवन जीने के लिये स्वच्छ वायु का सेवन हेतु मानव– मस्तिष्क की स्थिरता के लिए यन्त्र–तन्त्रादि औषधियों से अग्निपुराण दिशा–निर्देशित करता है। वायु की शुद्धि में ही हमारी शुद्धि निहित है।

जिस प्रकार वृक्ष, वायु, शिक्षा आदि हमारे जीवन के लिए आवश्यक है उसी प्रकार जल का प्रयोग भी प्रत्येक प्राणी के लिए अति आवश्यक है, किन्तु वह जल हमारे जीवन में कितना उपयोगी है, यदि हमें यही समझ में आ जाये तो जल प्रदूषण सम्बन्धी समस्त समस्यायें समाप्त हो जायेगी जिसे आज विज्ञान हाईड्रोजन परॉक्साइड कहता है। प्राचीन ऋषि उस जल को सोम तथा अग्नि नामक दो तत्व स्वीकार करते हैं। जल शरीर में अन्य पोषक तत्वों का वहन करता है। इसमें वर्षा का जल तथा अन्य जल के एकत्र करके एवं सुरक्षित करने हेतु कुएँ, बावली आदि की प्रतिष्ठा की गयी है। जिसमें जल एकत्र कर जन कल्याण हेतु उसका उपयोग किया जाता है। नदियों का जल भी प्राणियों के उपयोग में लाया जाता है। मनुष्य पतित पावनी गंगा का जल मोक्ष प्राप्ति के लिए उत्तम मानते हैं। ऋषि–मुनि नदियों का ही जल उपयोग में लाते थे। नदियों के तट पर ही ऋषियों के आश्रम होते थे। वहीं तपस्या भी करते थे। यहाँ ऐसी धारणा है कि– "प्रयाग या कुम्भ के स्नान से सूक्ष्म जीवाणुओं का शरीर में बीजारोपण होता है तथा वह जीवन के लिए अमृत का कार्य करता है। इसमें रोग प्रतिरोधक क्षमता होती है तथा अनेक

व्याधियाँ जैसे– टी0 बी0, डेंगू, चिकन–गुनिया, सर्दी, जुकाम, आदि से मनुष्य सुरक्षित होकर स्वस्थ दीर्घायु जीवन प्राप्त करता है।

अग्निपुराण के अनुसार वास्तुशास्त्र के माध्यम से भी हम अपने वातावरण को शुद्ध रख सकते हैं। हमें अपना मकान, महल या मन्दिर खुले तथा स्वच्छ वातावरण में, नदियों के तट पर या पवित्र शहरों में बनाना चाहिए। इसके लिए उपयुक्त भूमि का भी चयन करना चाहिए।

इस प्रकार से वास्तुशास्त्र के द्वारा पर्यावरण चेतना का अभिप्राय यही है कि हम अपने महल या मकान इस तरह बनाये कि वह हस्ताक्षर या सुख शान्तिदायक हो। उसका मुख्य द्वार उत्तर या पूर्व में होने चाहिए जिससे सूर्य से निकलने वाली अल्ट्रावैटिक किरणों का विशेष प्रभाव न पड़े तथा खिड़कियाँ या दरवाजे इस तरह के हों कि सूर्य का प्रकाश तथा वायु घर के अन्दर प्रवेश करता रहे। घर के सामने नीम, तुलसी, आम, अशोक तथा पुष्पों के पेड़–पौधे लगायें जायें जिससे वायुमण्डल शुद्ध रहे और हमें पर्यावरणीय प्रदूषण के दुष्परिणाम से बचाता रहे जिससे मानव का विकास अबाध गति से निरन्तर होता रहे। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह पर्यावरण को शुद्ध तथा प्रदूषण मुक्त बनाने का संकल्प करें और हमेशा पर्यावरण को स्वच्छ बनाये रखें।

व्रत–दान आदि से भी शुद्ध पर्यावरण को बनाये रखने के लिए इस पुराण में बताया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय धर्म और संस्कृति की परम्परा में इस संसार के कण–कण को ईश्वर कार्य मानकर त्याग के साथ भोग करने का संदेश सुरक्षित है, अर्थात् हम पर्यावरण का उपभोग करें किन्तु वह उपयोग सहृदय हो हम प्रकृति का दोहन करें शोषण नहीं। गाय से अपने लिये भी दूध ले ओर उसके बच्चे को भी पर्याप्त माता का दूध पीने का अवसर दें अतः पर्यावरण संरक्षण की मानवीय चेतना का दर्शन हमें वेदों से लेकर आधुनिकतम संस्कृत वाङ्मय में होता है।

अग्निपुराण में निरूपित पर्यावरण चेतना तथा पर्यावरण संरक्षण इस सुदीर्घ एवं अति प्राचीन परम्परा को आधुनिकता की आग में आने से रोकने का हर संभव प्रयास करना है। आधुनिक समय के प्रौद्योगिक दोहन, प्रकृति का शोषण, वैभव–विकास की रीति–नीति ने स्वस्थ्य पर्यावरण को आज संकट ग्रस्त कर दिया है, जिससे परिणामस्वरूप मानव जीवन त्रस्त दिखाई पड़ रहा है। इस संकट के निदान के लिए प्रकृति के साथ सामंजस्य पूर्ण व्यवहार एवं प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग करने हेतु अग्निपुराण स्थान–स्थान पर देवत्व की भावना से जोड़कर हमें प्राकृतिक संरक्षण हेतु सूचित किया है। स्वयं के कार्यों को हमें जानना होगा तथा पर्यावरण सुरक्षा हेतु प्रयास करना होगा। पर्यावरण को भली–भाँति जानकर उनका देखभाल करना होगा। यदि इसमें कहीं विकृतियाँ दिखें तो उन्हे दूर करने का यथासंभव प्रयास करें तभी हम पर्यावरण को सुरक्षित रख पायेंगे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. ऋग्वेद – 10/51/1
2. यजुर्वेद – 31/19
3. अग्निपुराण – 282/6
4. अ0 पु0 – 282/11–15
5. महाभारत अनुशासन पर्व– 58/27
6. अग्नि पुराण– 284/1–4
7. आयुर्विज्ञान बुलेटिन– दिनांक 1–15 फरवरी, 2007।

❖❖❖

वैदिक साहित्य में मनुष्य के समाजीकरण का साधन 'मन'

'शोध'

डॉ0 राहुल

महाविद्यालय, जमुनियाँ, जौनपुर।

अतिथि प्रवक्ता– डॉ0 सत्य प्रकाश सिंह

वैदिक साहित्य में मनुष्य के मन का अध्ययन उसके व्यक्तित्व का अध्ययन है, उसके समाजीकरण का अध्ययन है। मनुष्य की इच्छाएँ, उसके संकल्प, उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते है। अतः उपनिषद् ने पुरूष को काममय, या इच्छा स्वरूप कहा है। मन का स्वरूप चेतना है। अतः मन को शरीर से आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। मन में कर्तव्य आर निर्मातृत्व है, अतः वह आत्मरूप है। प्राणमय शरीर में मनोमय शरीर सूक्ष्म है। अतः मनोमय शरीर सूक्ष्म आत्मा बताया गया है। इस समस्त सृष्टिरूपी यज्ञ में मन ही ब्रह्मा है। वहीं इस सृष्टि का निर्देशक है[4]। मन की शक्तियाँ अनन्त है, अतः उसे अनन्त कहा गया है[5]। समाजीकरण का साधन मन है मन ही परमात्मा का साक्षात्कार कराता है[6]।

अथर्ववेद के एक मंत्र में सूत्ररूप में मनोविज्ञान के विषयों का उल्लेख है[7]। इसमें 'मनसे' के द्वारा संवेदना और प्रेरणा का ग्रहा है। 'चेतसे' के द्वारा चेतना और चिन्तन अभिप्रेत है। 'धिये' के द्वारा ध्यान या अवधान अभिप्रेत है। 'आकूतये' के द्वारा अनुभूति और संवेग का ग्रहण है। 'चित्तये' के द्वारा चित्त के धर्म स्मरण का ग्रहण है। 'मत्यै' के द्वारा अभिप्रेत है। 'श्रुताय' के द्वारा श्रवण, पठन एवं शिक्षण का ग्रहण है। 'चक्षसे' के द्वारा चक्षु कार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण अभिप्रेत है।

यजुर्वेद के 34वें अध्याय में 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' वाले 6 मन्त्रों में मन के सभी महत्वपूर्ण गुणों का उल्लेख किया गया है। मन न केवल जागृत अवस्था में ही इधर–उधर दूर तक जाता है, अपितु स्वप्न अवस्था में भी उसी तरह दूर–दूर तक जाता है। इसको ज्योतियों की ज्योति अर्थात् प्रकाशों का प्रकाशक कहा गया है। यह एक प्रकाश है जो ज्ञान और विज्ञान के सभी तत्वों को प्रकाशित करता है। यह चेतना का आधार है[8]।

इस मन को मानव–हृदय में रहने वाली अमर ज्योति और अपूर्व यक्षा अर्थात् आदरणीय तत्व माना गया है[9]। मन आत्मा का प्रतिनिधि है, अतः आत्मत्व के तुल्य वह अमर है। प्रकाशरूप है। मन की सत्ता से सब काम होते हैं, अतः उसे अनुपम यक्ष कहा गया है। मन ही प्रेरणा का स्रोत है। इसकी प्रेरणा से सारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्य होते हैं।

एक मंत्र में मन के तीन महत्वपूर्ण गुणों का उल्लेख है। ये हैं– प्रज्ञान, चेतस् और धृति। साथ ही यह भी कहा गया है कि यह एक ज्योति है। इसके बिना संसार का कोई काम नहीं होता है[10]।

मन वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में व्याप्त है। तीनों काल मन की सीमा में आते हैं। मन के द्वारा तीनों कालों का दर्शन होता है। कोई ऐसा काल नहीं है, जिसके विषय में मन चिन्तन और मनन न कर सकता हो। मन में ही संसार का सारा ज्ञान और बुद्धि निहित है। इसमें ही चित् अर्थात् प्रज्ञा शक्ति का समावेश है[12]।

मन एक योग्य सारथी है। यह इन्द्रियरूपी घोड़ों को ठीक ढंग से नियन्त्रित करता है। इसका निवास स्थान हृदय है। इसकी गति अद्वितीय है और इसमें असाधारण कार्यक्षमता है। मन को वायु के तुल्य तीव्रतम गति वाला बताया गया है[14]। मन त्रिकालदर्शी है। वर्तमान, भूत और भविष्य सर्वत्र इसकी गति है[15]। मन ही वाक्तत्व का धारक है। वाक्तत्व में संसार का सारा ज्ञान निहित है, अतः मन ज्ञान मात्र का धारक और प्रेरक है[16]। मन को हृदय का निर्देशक कहा गया है अतः मन हृदय को आदेश करता है[17]। मन का कार्य चिन्तन और संकल्प विकल्प है। उहापोह, तर्क–वितर्क, गुण–दोष का विचार और विविध कल्पनाएँ मन का विषय है। अतः कहा गया है कि मन में संकल्प करता है[18]। यजुर्वेद में भी मन के गुण काम और आकृति बताये गये हैं।[19]

ऋग्वेद में मन के दो गुणों का उल्लेख है। मन, ज्ञान और कर्म का साधन है। अतः उसे दक्ष अर्थात् ज्ञानयुक्त और कृतु अर्थात् क्रियाशील कहा गया है[20]। मन श्रेय वस्तुओं को ग्रहण करता है, अतः ज्ञान का साधन है। वह उस ज्ञान के आधार पर तदनुकूल प्रेरणा देता है और कार्य कराता है, अतः वह प्रेरणा का स्रोत है। एक मंत्र में बुद्धि का कार्य बताया गया है कि वह मन को चेतना देती है। मन को प्रेरणा देना, उसे कार्यों में नियुक्त करना तथा ध्यान और एकाग्रता की क्षमता प्रदान करना बुद्धि का कार्य है[20]।

अथर्ववेद के एक मंत्र में प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। संवेदनाओं को 5 ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण करती है और मन के द्वारा इनका प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः 5 ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये 6 मिलकर प्रत्यक्षीकरण का कार्य पूरा करते है[22]।

मन की अनन्त विशेषताएँ हैं। संसार का ऐसा कोई सुख–दुःख, हानि–लाभ, ज्ञान–विज्ञान, उद्योग, संघर्ष, द्वन्द्व, चिन्तन, कल्पना, अनुभूति और अभीष्ट लाभ नहीं है, जो मन के कार्यक्षेत्र में न आता हो। मन को सहस्रकिरण या असंख्यशक्ति कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं है। मन द्यावापृथिवी, लोक–परलोक,

वर्तमान, भूत और भविष्य सभी को अपनी परिधि में रखता है। अतः वेदों में इसकी अनन्त शक्तियों का उल्लेख है। अथर्ववेद का कथन है कि मन वशीकरण का साधन है। मन दूसरे के मन को आकृष्ट करता है, उसे वश में कर लेता है और अपने इच्छानुसार उसे यथा स्थान प्रवृत्त करता है[22]। मेस्मरिज्म और हिप्नॉटिज्म मन के द्वारा वशीकरण के सफल प्रयोग हैं। साधना और तप के द्वारा मन की चुम्बकीय शक्ति को विकसित किया जाता है। शुद्ध और पवित्र मन की विशेषता बतायी गयी है कि इसके द्वारा तेजस्विता, समृद्धि और शारीरिक निरोगता आदि प्राप्त की जाती है। शारीरिक निरोगता का साधन मानस–चिकित्सा है। मन की शुद्धि शरीर के मल और विक्षेपों को दूर करती है।

मन संजीवनी शक्ति है। यह निर्जीव को सजीव और अक्षम को सक्षम बना देती है। इसमें संजीवनी शक्ति है। यह चेतनता प्रदान करता है और कर्म में प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार मन चेतना और प्रेरणा का मूल है[25]। मन की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मनोबल से मृत्यु को वश में किया जा सकता है। मरणासन्न को मृत्यु से बचाया जा सकता है। जिस प्रकार मोटी रस्सी से जुए को कसा जाता है। उसी प्रकार मन के द्वारा मृत्यु को भी कसकर वश में लाया जा सकता है[26]।

बालक के शरीर में मन के विकास के लिए यजुर्वेद में सीमान्तोनयन संस्कार का विधान मिलता है। आयुर्वेद के अनुसार गर्भ के दिनों में पाँचवें महीने में मन का निर्माण होने लगता है। इस प्रकार गर्भस्थ शिशु की मानसिक शक्ति के उन्नयन के लिए भी यह संस्कार अपेक्षित है। गर्भिणी स्त्री की इच्छाओं की पूर्ति करना भी इस संस्कार का उद्देश्य है। पुंसवन संस्कार, अथर्ववेद के आठवें कांड में इससे सम्बन्धित एक सूक्त प्राप्त होता है जिससे परवर्ती सीमान्तोनयन संस्कार पर किंचित प्रकाश पड़ता है। अथर्ववेद में इस अवसर पर सामूहिक रूप से आनन्द मनाया जाता था। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य था कि गर्भिणी स्त्री सदा प्रसन्न रहे, क्योंकि गर्भ के पाँचवें मास से शिशु का मानसिक विकास आरम्भ हो जाता है तथा स्त्री के प्रत्येक क्रिया–कलाप एवं आवरण का प्रभाव उसकी संतान पर निश्चित रूप से पड़ता है। प्रजापति जबकि सन्तति उत्पन्न करने वाले देव माने गये हैं, इसलिए उनसे प्रार्थना की जाती थी कि स्त्री सन्तति किसी दूसरे गर्भ में जाए और पुमान् संतति यहाँ इस गर्भ में आये[27]।

मन की पवित्रता, विचारों की शुद्धि और तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है[28]। मन यदि शुद्ध है तो मनुष्य जीवन–मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। यदि वह अशुद्ध है तो मनुष्य सदा बन्धन से ग्रस्त रहता है। विचारों की शुद्धता का फल बताया गया है कि इससे सारे मनोरथ सफल होते हैं। साथ ही यह भी बताया गया है कि विचारों की शुद्धि का एकमात्र साधन है– पापों से निवृत्ति, बुराइयों से बचना या कुकर्मों का छोड़ना[29]। मन की पवित्रता से पापों पर विजय प्राप्त की जाती है। मन की पवित्रता सभी प्रकार के युद्धों में विजय प्राप्ति का अमोघ साधन है। पाप को वृत्र कहा गया है। शुभ विचारों से वृत्र का वध किया जाता है[30]।

जैसा मनुष्य का हृदय होता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि होती है। विचारों और भावनाओं की शुद्धि–बुद्धि के परिष्कार का साधन है। अतः कहा गया है कि शुद्ध हृदय से बुद्धि को परिष्कृत करता हूँ[31]।

अनेक मंत्रों में मनोबल या इच्छाशक्ति के महत्व का वर्णन किया गया है। मनोबल वह शक्ति है, जिसे कोई दबा नहीं सकता है। यह अघर्षणीय है। मनोबल पहाड़ से भी अधिक शक्तिशाली है। दृढ़ निश्चय को पहाड़ भी नहीं रोक सकते हैं[32]। मनोबल का यह महत्व है कि मनुष्य जीवन में कभी हारना नहीं जानता। सदा विजय–लाभ करता है। वह मृत्यु से हार नहीं मानता। मृत्यु को भी वश में रखता है[33]।

मन विचारों का धारक है विचार मानव को सदा प्रभावित करते रहते हैं जीवन का निर्माण विचारों के अनुसार होता है। शुभ विचार उन्नति, विकास, प्रगति और दीर्घायु के साधन हैं तथा अशुभ विचार रोग, शोक, दैन्य और अल्पायु के कारण हैं[34]। शुभ विचार सदा समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये अधृष्य, अप्रतिहत और उन्नतिकारक हैं। शुभ विचार देव–कृपा का फल है, अतः शुभ विचारों में देवों का निवास है। इसलिए मंत्र में प्रार्थना की गई है कि शुभ विचार सभी ओर से आवें[35]। शुभ विचार पाप भावना को नष्ट करते है। जीवन में विजय दिलाते हैं और वृत्ररूपी पाप को नष्ट करके आत्मशक्ति को विजयी बनाते हैं[36]।

मन का सारभाग संकल्प शक्ति है। संकल्प शक्ति वेदों में संकल्प शक्ति का वर्णन काम शब्द के द्वारा हुआ हैं। संसार में सबसे पहले संकल्पशक्ति का आविर्भाव हुआ। उससे ही सारी सृष्टि बनी[37]। संकल्पशक्ति सबसे महान है। यह द्यावापृथिवी से भी उत्कृष्ट हैं[38] संकल्पशक्ति मन का सार भाग है, अतः इसे मन का रेतस् या वीर्य कहा गया है[39]। संकल्पशक्ति आग्नेय तत्व है अतः इसे अग्नि कहा गया है[40]। सभी प्रकार के यज्ञों से संकल्पशक्ति को अधिक प्रभावशाली बताया गया है[41]। संकल्पशक्ति से कुस्वप्न आदि दोषों का निराकरण किया जाता है[42]।

संदर्भ–

1. अयं काममयः पुरूषः। – बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.9.11।
2. मन एवास्य आत्मा। – बृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.17।
3. अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। – तैत्तिरीयोपनिषद्, 23।
4. मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।– बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.1.6।

5. अनन्तं वै मनः। – बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.1.9।
6. मनसैवेदमाप्तव्यम्। – कठोपनिषद्, 2.1.11।
7. मनसे चेतसे धिय, आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे, विधेम हविषा वयम्।।
अथर्ववेद, 6.41.1।
8. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
यजुर्ववेद, 34.1
9. येन कर्माण्यपसो मनीषिों यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
यजुर्वेद, 34.2
10. यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरनन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। यजुर्वेद, 34.3
11. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
यजुर्वेद, 34,4
12. यजुर्वेद, 34.5
13. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् ननीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
यजुर्वेद, 34.6
14. वातो वा मनो वा, गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
ते अग्रे अश्वमयंजन्, ते अस्मिन् जवमादधुः।।
यजुर्वेद, 9.7
15. यत् ते भूतं च भव्यं च, मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आवर्तयामसि – इह क्षयाय जीवसे।।
ऋग्वेद, 10.58.12
16. पतंगो वाचं मनसा विभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति।।
ऋग्वेद, 10.177.2
17. आ यन्मा वेना अरूहन्नृतस्यं एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचद् अचिकदन् शिशुमन्तः सखायः।। ऋग्वेद, 8.100.5
18. मनसा सं कल्पयति, तद् देवां अपि गच्छति।
अथो ह ब्रह्मणो वशाम्, उपप्रयन्ति याचितुम्।।
यथर्ववेद, 12.4.31
19. यजुर्वेद, 39.4
20. ऋग्वेद, 10.25.1
21. इन्द्र यस्ते नवीयसीं, गिर मन्द्रामजीजनत्।
चिकित्विन्मनसं धियं, प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम्।।
ऋग्वेद, 8.95.5
22. अथर्ववेद, 19.9.5
23. अथववेद, 3.8.6, 6.94.2
24. यजुर्वेद, 2.24, 8.14, अथर्ववेद, 6.53.3
25. यजुर्वेद, 3.54
26. ऋग्वेद, 10.60.8; 10.60.10
27. तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीत्वा मरामसि। अथर्ववेद, 6.11.1
28. अथर्ववेद, 6.122.4
29. ऋग्वेद, 10.128.4; अथर्ववेद, 5.3.4
30. ऋग्वेद, 8.19.20; यजुर्वेद, 15.39.40; सामवेद, 1560
31. ऋग्वेद, 10.119.5
32. ऋग्वेद, 10.27.5
33. ऋग्वेद, 10.48.5
34. यजुर्वेद, 25.21; ऋग्वेद, 1.89.8
35. ऋग्वेद, 1.89.1; यजुर्वेद, 25.14
36. यजुर्वेद, 15.39
37. अथर्ववेद, 9.2.19
38. अथर्ववेद, 9.2.20
39. कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि।।
अथर्ववेद, 19.52.1
40. यजुर्वेद, 11.66
41. यत् पुरूषेण हविषा, यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो, यद् विहन्येनेजिरे।।
अथर्ववेद, 7.5.4
42. यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुंचामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्।। अथर्ववेद, 9.2.2।

❖❖❖

वैदिक ऋषियों द्वारा वीरता का आह्वान

'शोध'

राजकुमार उपाध्याय 'मणि'

भारतीय वांङमय में वेदों का सर्वप्रमुख स्थान है यह विश्व साहित्य की अक्षय निधि है। इसमें वर्णित विषय सार्वकालिक, सार्वभौमिक व सर्वदा प्रासंगिक है। ये अपनी अलौकिकता एवं अपौरूषेयता के लिए भी विख्यात है। इसकी ऋचायें ऋषियों द्वारा देवताओं के साक्षात्कार से प्रकट हुई हैं। इसीलिए इन ऋचाओं को मन्त्र भी कहते हैं। ये तपःभूत, शक्ति सम्पन्न मंत्र के भिन्न–भिन्न देवता और ऋषि दोनों हैं। मंत्रों को ऋषियों ने देवताओं से साक्षात्कार करके प्राप्त किया था। अतः इन्हें मन्त्रद्रष्टा भी कहते हैं। इन मंत्रों में ज्ञान–विज्ञान, समाज और प्रकृति भी मिलती है। इन मंत्रों में मनुष्यों को उपदेश दिये गये, उनसे ऋषियों की जागरूकता परिलक्षित होती है। उपदेशों के माध्यम से उन्होंने समाज को सावधान किया। राष्ट्र की सुरक्षा को आत्मिक सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा के साथ जोड़ा। राष्ट्र की संकल्पना का निर्माण व्यक्ति परिवार के वृहद्रूप से समाज के द्वारा बताया। अतः समाज में रहते हुए समाज के साथ राष्ट्र की रक्षा प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य बताया। इसलिए ऋषियों ने मंत्रों के द्वारा वीरता का आह्वान किया है।

उन मंत्रों में अमित शक्तियाँ विद्यमान हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने समस्त देशवासियों के प्रत्येक वर्ग पर समाज के लिए शुभ और कल्याणमयी कार्य हेतु ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण ज्ञान से युक्त हो जायें। राष्ट्र प्रहरी क्षत्रिय पराक्रमी, अस्त्रविद्या में पारंगत, शत्रु विनाशी और महारथी बन जायें, गायें दूध से परिपूर्ण हो जायें, बैल शक्ति सम्पन्न हो जायें, घोड़े तेज धावक बनें, महिलायें सर्वगुणी बन जायें, युयुत्स्वाओं में विजिगीषु प्रबल होंवे, युवक निडर, सुशील बनें, बादल आवश्यकतानुकूल वर्षा करें, औषधियाँ फलफूलों से युक्त रहें, अभिलषित वस्तुओं की निरन्तर प्रगति भी होती रहे तथा प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित रहें–

आ ब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
आ राष्ट्रेराजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधो महारथो जायताम्,
दोग्ध्री धेनुर्वोढ़ाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धियोषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्,
निकामे निकामे नः पर्जन्योवर्षतु,
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्:,
योगक्षेमो नः कल्पताम्।।[1]

ऋषियों ने परमात्मा से साहस, शौर्य, और शक्ति के लिए भी स्तुति किया है कि हे प्रभो! तू मेरे अन्दर उत्साह, बल और कर्म को भर दे।

भद्र नो अपि वातय मनोदक्षमुत क्रतुम्।।[2]

भारतीयों में अमित शक्ति पवन पुत्र हनुमान की भाँति विद्यमान होती है किन्तु उसको जगाने–बताने वाले रीक्षपति जामवन्त की आवश्यकता होती है। इसीलिए ऋषियों ने इन ऋचाओं के द्वारा विभिन्न वीरों को उपदेश दिये हैं जो प्रायः अधिक प्रासंगिक जान पड़ता है। ऋग्वेद में ऋषि उपदेश देते हैं कि – हे वीरों उठो, आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। तुम्हारी भुजाएं उग्र हो ताकि तुम कभी पराजित न हो सको–

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्राः वः सन्तु बहवोऽनाधृष्या यथासथ।।[3]

पुनः आगे ऋषियों ने कहा कि हे वीर आगे बढ़ शत्रु पर वार कर उसे परास्त कर दे। तेरे शस्त्र को कोई रोक नहीं सकता। शत्रु को झुका देने वाला बल तुझमें विद्यमान है। देख! तेरी जिन प्रजाओं को शत्रु ने पकड़कर कैद कर लिया है उन्हें शत्रु के हाथ से जीत ले और स्वराज्य का आराधक बन–

प्रेहय भीहिधृष्णुहिन न ते वज्रे नियंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्तं जया।
अपोऽचन्ननुय स्वराज्यम्।।[4]

उन ऋषियों का चिन्तन अद्भूत था। शत्रुओं के प्रति उनका चिन्तन इस प्रकार का था कि न 'बॉस रहेगी न बॉसुरी बजेगी'। अर्थात् शत्रुओं का समूल विनाश ही करना चाहिए जिससे पुनः हमारी ओर न देख सके। यह मूलमन्त्र सभी देशों को अपनाना ही चाहिए। विशेष रूप से भारत को अवश्य ही, क्योंकि मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज ने क्षमा करके भारत के भविष्य को नष्ट कर दिया। ऐसे ही मेवाड़ की क्षत्राणी ने भी मीना बाजार में अकबर को क्षमा कर दिया था। ब्रिटिश काल में काशी नरेश द्वारा वारेन हेस्टिंग को भी क्षमा कर देना भारत के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। वर्तमान समय में अनेक युद्धों में पराजित पाकिस्तान बार–बार युद्ध को ललकार रहा है। कभी भी सर्प को जीवित नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि ये कभी भी घात कर सकते हैं। ऋषियों ने कहा है कि हे वीर! राक्षसों को संसार से मिटा दें। घात–प्रतिघात मचाने वालों को कुचल दें, दुष्ट शत्रु की दाढ़ी को तोड़ दें। जो तुम्हें दास बनाना चाहता है उस बैरी के क्रोध को चूर कर दें–

विरक्षो वि मृधो जहि विवृतस्य हनू रूज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्यामिदासतः।।[5]

शत्रु को पराजित करने के लिए कुशल सैन्य व्यवस्था, संगठनात्मक कौशल, प्रभावी हथियार जैसे युद्ध की प्रमुखता को

संकेतित करते हुए कहा है कि हे वीरों! सुदृढ़ हो, तुम्हारे हथियार शत्रु को खदेड़ कर परे भगा देने के लिए, बलिष्ठ शत्रु को रोकने के लिए तुम्हारी सेना तुम्हारा संगठन प्रशंसा के योग्य हो–

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीलूउतप्रतिष्कभे।

युस्माकमस्तुतविषी पनीयषी मा मर्त्यस्य मायिनः।।[6]

जिस प्रकार से भगवान राम ने वनवास काल में ऋषियों मुनियों के अस्थि समूह को देखकर भारतीय वैदिक परंपरानुसार ही शत्रुओं के समूल विनाश का संकल्प लिया था–

निशिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं जाई जाई सुख दीन्ह।[7]

शत्रुओं के विनाश का शाश्वत उपदेश मन्त्र द्रष्टाओं ने किया है कि पिशाचों को हम अपनी शक्ति के बल से दबा दूँगा। इनकी धन दौलत छीन लूँगा। तब दुष्टता करने वालों को मार दूँगा। मेरा यह संकल्प पूरा होकर रहेगा–

सहे पिशाचान्त्सहसा एषां द्रविणं ददे।

सर्वान दुरस्यतो हन्मि सं मे आकूतिर्ऋध्यताम्।।[8]

अपनी वीरता, सत्साहस का भी शत्रुओं को परिचय देना चाहिए। नीतिशास्त्र भी साम, दाम दण्ड, भेद के द्वारा शत्रुओं पर विजय का मार्ग बताया है। यदि हम सीधे शत्रु पर आक्रमण करते हैं तो अधिक उचित नहीं है क्योंकि अधिक धन बल नष्ट हो जायेगा। यदि कह सुनकर ही अपनी प्रभुता को शत्रु से मना लें तो अधिक अच्छा होगा। अन्ततः शत्रुओं पर आक्रामक भावना से टूटना चाहिए जिससे वे भयभीत हो जायें इन बातों को अथर्ववेद में लिखा गया है कि दुष्टपिशाचों के बीच में मैं खलबली मचा देने वाला हूँ, जैसे बाघ आकर ग्वालों के बीच में। मुझे सामने देखकर पिशाच अपनी सब चौकड़ी भूल जाते हैं जैसे कुत्ते सिंह को देखकर–

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।

श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दतेन्यचम्।[9]

आज हमारे देश की दुर्गति अनेक वैदेशिक समझौंतों के कारण ही हुयी है। इन समझौंतों को यदि हम ताक पर रख दिये होते तो भी भारत का भविष्य उज्ज्वल होता। अतः आधुनिक राजनेताओं एवं भारतीयों के लिए ऋषियों का यह शुभ–उपदेश है कि पिशाचों के साथ, चोर–लुटेरों के साथ, डाकुओं के साथ मैं भी समझौता नहीं कर सकता। जिस गाँव में नगर में मैं जा पहुँचता हूँ, पिशाच वहाँ से भाग खड़े होते हैं–

न पिशाचैः सं शक्नोमि नस्तेनैर्नवनर्गभिः

पिशाचस्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे।।[10]

पुनः इन्हीं पिशाचों के विषय में अपने शौर्य को बताते हुए कहा कि सुन लो। जिस गाँव में भी यह मेरा दमनकारी बल पहुँच जाता है। पिशाच वहाँ से नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। मुझे देखते ही वे सब दुष्टता करना भूल जाते हैं–

य ग्राममाविशत दइमुग्र सहो मम।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुपजानते।।[11]

समाज को भयमुक्त रखने के लिए दुराचारियों चोर, लुटेरे, दुष्ट, हिंसक प्राणियों का विनाश भी आवश्यक होता है। जब तक समाज में हिंसक लोगों का प्रवेश रहेगा तब तक इसका अधिक विस्तार होगा। सामाजिक सुखशान्ति एवं सुव्यवस्था के बाधक तत्वों के विनाश के लिए सभी व्यक्ति को संगठित भाव से कटिबद्ध होना पड़ता है। जागरूक समाज के सभी लोग पराकम भाव से शत्रुओं का सामना करेंगे तभी आतंक समाप्त होगा। हमारे वेदों ने हिंसा फैलाने वालों सभी प्राणियों को नाश कर देने के लिए आह्वान किया है कि–

व्याघ्रं दतवतां वयं प्रथमं जम्भयामसि।

आदुष्टेनमथो अहिं यातुधान मथोधृकम्।।[12]

आज समाजशास्त्रियों में अन्वेषण का विषय बना हुआ है कि क्या आर्य लोगों में दुष्प्रवृत्तियाँ थीं?अपने ऋचाओं के द्वारा ऋषियों ने जो विभिन्न उपदेश दिये हैं उनमें अनेक अनसुलझे प्रश्नों को देखा जा सकता है। यह आधुनिक समाज वैदिक संहिता काल से अधिक प्रगतिशील है किन्तु वैदिककाल की प्रगतिशीलता कई अर्थों में अधिक श्रेष्ठ थी क्योंकि उस काल में भी विभिन्न समस्याओं से आर्यजनों का निरन्तर संघर्ष रहा है। ऋचाओं से ज्ञात होता है कि राक्षसी वृत्तियों वाले रोगों द्वारा समाज में अनैतिक कार्य होते थे। समाज के चोरों, लुटेरों आदि को भी मंत्रद्रष्टाओं ने चेतावनी दिया है कि जो कोई चोर–लुटेरा मेरे पास आवेगा, वह अच्छी तरह कूट–पिसकर लौटेगा–

यो अद्य स्तेन आयति, स संपिष्टो अपायति।[13]

ऋषियों ने अपने अन्तः प्रज्ञा से समझ लिया था कि समाज में व्यक्ति आन्तरिक संघर्षों से ही पराजित होता है। कोई भी व्यक्ति अपने शत्रु से शीघ्र ही हार जाता है जब किसी अपने व्यक्ति मित्र के द्वारा शत्रु को सहायता प्रदान करता है। हमारे देश के प्राचीन और आधुनिक युद्धों में ऐसे शत्रु अधिक थे इनके द्वारा ही अनंतकाल से भारत छला जाता रहा इसीलिए लोक कहावत प्रचलित है– घर का भेदी लंका ढावे। कतिपय व्यक्ति अपनी दुर्बलता और मानसिक द्वन्दों से पीड़ित होकर पराजय की अधोगति पाते हैं। इसलिए ऋषियों ने अपने संदेश में अन्तर्वाह्य दोनों शत्रुओं को नाश कर देने के लिए आह्वान किया है कि हे मनुष्य! देख तेरे दो प्रकार के शत्रु हैं। एक तो आन्तरिक शत्रु हैं दूसरे बाहरी शत्रु हैं। तेरे अन्दर जो कभी निरूत्साह, प्रमाद, पराजय आदि दुर्बलताओं के भाव आते हैं वे तेरे आन्तरिक शत्रु हैं। उन आन्तरिक शत्रुओं को तू संतप्त कर दे साथ ही तू ऐसी वीरता दिखा कि जो दूसरे हानिकारक वाह्यशत्रु हैं उनकी भी कुत्सित अभिलाषाएं कभी भी फलीभूत न हो सके। हे वीर! तू वसु है सब अविवेकी शत्रुओं को तपा डाल। ऐसी तेजस्वी बन कि तुझसे तेज की किरणें निकल–निकल कर चारो ओर फैलती रहें–

तयो ष्वग्ने अन्तरां अमित्रां तया शमसररूषः परस्य।

तपो वसो चिकिताना अचित्तानिव ते तिष्ठनताम् जरा

अयासः।।[14]

स्वाभाविक है कि मानवीय अन्तश्चेतनाएँ सद्वृत्तियों के साथ दुष्प्रवृत्तियों के चिन्तन में अटक जाती हैं जिसे सात्त्विक वृत्तियों के द्वारा कल्याणमयी दिशा में चिन्तन करने लगती हैं। इन मानवीय दुर्बलताओं के प्रति ऋषियों का ध्यान गया था और उन्होंने आर्यों को सात्त्विक विचारपूर्ण चिंतन के लिए सुझाव दिया, क्योंकि अघयुक्त यह चेतना शीघ्र ही दुष्प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित हो जाती हैं। अतः उन लोगों ने कलमष अर्थात् आन्तरिक विकारों के विवेचन का उपदेश देते हुए भारतीयों को शुभकार्यों में सन्नद्ध होने के लिए आवाहन किया है कि ओ मन के पाप! चल दूर हट मेरे पास से क्योंकि निन्दित सम्मतियों को दे रहा हैं। चल, लम्बा बन यहाँ से, वृक्षों से जाकर टकरा, जंगलों में भटकता फिर। मुझे अवकाश कहाँ–कहाँ है जो तेरा स्वागत करूँ मेरा तो मन गृहकार्यों में और गोसेवा आदिशुभकार्यों में लगा है–

पराऽपेहिमनस्पाप किमशास्तानि शंससि।

परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मनः।[15]

ऋषियों ने जितेन्द्रियता से ही स्वयं को जीतने तथा विश्व को जीत लेने का सिद्धमन्त्र बताया है कि हे नर!। तूँ तो विद्वान है, वर्चस्वी है, शरीर रक्षक है अपने को पहचान। श्रेष्ठों तक पहुँच, बराबर वालों से आगे बढ़।

सूररसि वर्चोध असि तनुपानो इसि।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं काम।।[16]

आधुनिकता के विकास के युग में ऋषियों ने **चरैवेति –चरैवेति** के द्वारा सन्मार्ग पर चलने का जो संदेश दिया वह संसार में अन्यत्र शिक्षा नहीं मिलती है। केवल वैदिक संस्कृति ही मृत्युज्जयता का शाश्वत उद्घोष करती है– ये नर! उन्नति कर, अवनति मत हो, मौत की बेड़ी को काट डाल

उत्क्रोमातः पुरूष माववत्था।

मृत्योः पड्वीशमवमुचवनम्।।[17]

ऋषियों ने तन्द्रा–निद्रा, प्रमाद से मुक्ति पाने के लिए निरंतर उपदिष्ट किया कि हे भाइयों! उठो और मृत्यु को परे धकेल दो, श्रेष्ठ लम्बी आयु को धारण करो, धन्य–धान्य और प्रजा से फूलो फलो, शुद्ध पवित्र तथा परोपकारी जीवन वाले बनो–

मृत्योः पदं पोपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।

आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।।[18]

अपने आचरण को पवित्र बनाने के साथ–साथ ऋषियों ने मानो शठे शाठ्यं समाचरेत् का भी संदेश दिया है कि जिससे बात करता हूँ मीठा बोलता हूँ। जिसकी ओर दृष्टि करता हूँ, वह मुझसे स्नेह करने लगता है एक ओर तो यह मेरा मधुर रूप है किन्तु साथ ही तेजस्वी और वेगवान् भी हूँ कि जो दुष्ट मुझे अपना क्रोध दिखाते है, उन्हें बात ही बात में गिराता हूँ–

यद् वदामि मधुमत तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।

त्विषीमानस्मि जूतिमान वान्यान् हन्मि दोधतुः।।[19]

इन वैदिक मंत्रों के पढ़ने से जीवन मे अनेक सूत्र मिलते हैं जो विपत्तिकाल एवं शुभ समय में सहायक बन जाते हैं। ऋषियों ने अपने अमरवाणी से हमें सदैव निर्भीक, साहसी और दृढ़ प्रतिज्ञ पथिक होने का मन्त्र दिया है वे कहते हैं कि भयभीत मत हो, पथ से विचलित मत हो, बलधारण कर। ये दृढ़ द्यावा पृथ्वी तुझे दृढ़ता का पाठ पढ़ायें। तेरे अन्दर बलधारण करायें, देखपाप को संसार से मिटा दे किन्तु आनन्द और शक्ति अमृतरस को नहीं–

मामेर्मा संविक्थाऽउर्ज्जन्धत्स्वधिषणे वीड्वी सती।

वीड्येथा मूर्ज दधाथाम पाटमा हतो न सोमः।।[20]

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने विश्व के लिए जो मानवतावादी दृष्टि दी है वह सम्पूर्ण विश्व के हेतु कल्याणमयी है। इन ऋषियों की ऋचाओं में वीरता का आह्वान है। यह भारत के लिए अमृतत्व है जिनके पथ का अनुसरण करके अजेय बन सकता है। इन मंत्रों की आधुनिक समय में अधिक प्रासंगिकता बढ़ जाती है। जब भारत अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है। चतुर्दिक् अशान्ति और युयुत्स्वायी स्थिति बन चुकी है। यह वैदिक ऋषियों की वीरता का उपदेश भारत के वासियों को आत्मसात करना चाहिए तथा इजराइल देश जैसे प्रत्येक नागरिक को एक सैनिक के रूप में अपने राष्ट्र और समाज की रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध होना चाहिए।

संदर्भ सूची–

1. यजुर्वेद– 22/22
2. ऋग्वेद– 10/25/1
3. ऋग्वेद– 10/103/13
4. ऋग्वेद– 1/80/3
5. ऋग्वेद– 1/152/3
6. ऋग्वेद– 1/39/2
7. गोस्वामी तुलसीदास– श्रीरामचरितमानस– 3/9
8. अथर्ववेद– 4/36/4
9. अथर्ववेद– 4/36/6
10. अथर्ववेद– 4/36/7
11. अथर्ववेद– 4/36/8
12. अथर्ववेद– 4/3/4
13. अथर्ववेद– 4/3/5
14. अथर्ववेद– 3/18/2
15. अथर्ववेद– 6/45/1
16. अथर्ववेद– 2/11/4
17. अथर्ववेद– 8/1/4
18. ऋग्वेद– 10/18/2
19. अथर्ववेद– 12/1/58
20. यजुर्वेद– 6/35।

वाल्मीकिकालीन शिक्षा

'शोध'

चन्दन लाल गुप्ता
शोधच्छात्र–संस्कृत विभाग, कलासंकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

महर्षि बाल्मीकिकालीन शिक्षा पद्धति प्राचीन भारतीय संस्कृति की युग–युगीन धारा का ही एक अभिन्न अंग है। इस काल में शिक्षा के उच्च नैतिक मानदण्डों, आदर्शवादी विचारधाराओं और लोक एवं परलोक दोनों को सिद्ध करने वाली धार्मिक शिक्षा का व्यापक स्वरूप प्राप्त होता है। इसमें कोरी आदर्शवादिता ही नहीं थी, बल्कि आदर्श और व्यवहार का मंजुल समन्वय था। शिक्षा संगठनात्मक समाज का यह आदर्शभूत तत्त्व है, जो चारित्रिक, नैतिक एवं बौद्धिक तथा भौतिक स्तर को विकसित करते हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सभ्य समांज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान निभाती है।

लौकिक काव्य के जन्मदाता करूणा की साक्षात् मूर्ति महर्षि वाल्मीकि को भारतीय परम्परा के अति प्राचीन काल से ही आदि कवि तथा रामायण को आदिकाव्य के रूप में स्मरण किया है– 'आदिकाव्यमिदं त्वार्ष पुरा वाल्मीकिना कृतम्'। रामायण में वर्णित घटनाओं के आधार पर वाल्मीकि राम के समकालीन ठहरते हैं। क्योंकि जब राम ने गर्भवती सीता का परित्याग कर दिया था तब वाल्मीकि ने ही उन्हें अपने आश्रम में शरण दी थी। तमसा के तट पर स्थित महर्षि वाल्मीकि का आश्रम साहित्य और ललित कलाओं का केन्द्र था। रामायण कालीन शिक्षा में धर्म एवं बौद्धिकता का, चरित्र एवं नैतिकता का तथा आदर्श एवं व्यवहार का जो सर्वश्रेष्ठ एवं समुन्नत स्वरूप मिलता है, वैसा रामायण से पूर्व एवं पश्चाद्वर्ती समाज एवं साहित्य में न मिलता है और न मिलेगा ही।

महर्षि वाल्मीकि के जीवन का सर्वोच्च आदर्श धर्म था। वह धर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते है–

धर्मो हि परमो लोके धर्मे प्रतिष्ठितम्।

राम ने जहाँ पिता के वचन की रक्षा हेतु चौदह वर्ष के कठोर वनवास को स्वीकार किया 'कुवार्णः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत' वहीं पुरवासियों के लोकापवाद को भी नजरअन्दाज न करते हुए रघुकुल की भूषण स्वरूप अपनी प्राणप्रिया सीता का भी परित्याग कर राजा के कर्तव्य का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया है।

वाल्मीकि के समय में बालक के उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरूकुल एवं ऋषियों के आश्रमों में शिक्षा प्रदान करने की पद्धति थी। रामायण काल में सभी के शिक्षित होने का प्रमाण स्वयं वाल्मीकि के कथन से स्पष्ट हो जाता है–

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्।।

समस्त द्विज जातियों को विद्याध्ययन का अधिकार था। शुद्रों को अध्ययन–अध्यापन एवं तपस्या का अधिकार नहीं था। शम्बूक वध से इसकी पुष्टि हो जाती है। उस समय भी शुद्रों का कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। अध्यापन का कार्य मुख्य रूप से ब्राह्मणों के द्वारा ही किया जाता था। राम की शिक्षा–दीक्षा धर्म और अर्थ के ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणों के द्वारा हुयी थी। षड् अंगों सहित वेदों का अध्ययन–अध्यापन उस समय की शिक्षा पद्धति का अनिवार्य अंग था।

तत्कालीन समाज में गुरू का सर्वोच्च और सम्मानजनक स्थान था। गुरू और शिष्य में अच्छे सम्बन्ध थे। रामायण में गुरू को भी माता–पिता और श्रेष्ठ भ्राता की तरह पितरों में गिना जाता था, क्योंकि वह उसे श्रेष्ठ विद्या का दान देता था–

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः।।

गुरू को माता–पिता से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। क्योंकि माता–पिता हमें जन्म देने वाले हैं लेकिन गुरू हमे प्रज्ञा चक्षु प्रदान करते हैं–

पिता ध्येनं जनयति पुरूषं पुरूषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरूरूच्यते।।

रामायण में गुरू के अतिरिक्त आचार्य, कुलपति, उपाध्याय और शिक्षकों का भी वर्णन आता है। दूर–दूर से आये हुए विद्यार्थी कुलपति से विद्या ग्रहण करते थे। उपाध्याय शुल्क लेकर विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। शास्त्र शिक्षा के अतिरिक्त ललित कलाओं का भी समावेश था। चित्रकला और संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। इसकी शिक्षा शिक्षक प्रदान करते थे। तुंबरू अप्सराओं के संगीत शिक्षक थे। गुरू शिष्यों को निःशुल्क विद्या दान करते थे। गुरूकुलों का सम्पूर्णदायित्व समाज और राज परिवारों पर निर्भर करता था। उनको सामाजिक और आर्थिक संरक्षण प्रदान करना राजा का परम कर्त्तव्य था। अयोध्या में ब्रह्मचारियों का अपना अलग संगठन था। एक बार जब इस संघ के सदस्यों ने अपनी सहायतार्थ कौशल्या के पास आये तब राम ने प्रत्येक ब्रह्मचारियों को एक–एक हजार सिक्के दिलवाये थे–

मेखलिना महासंघः कौसल्यां समुपस्थितः।
तेषां सहस्त्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय।।

इस काल में शिक्षण संस्थाओं की कमी नहीं थी। क्योंकि आश्रमों के अतिरिक्त नगरों में भी शिक्षण केन्द्र संचालित थे। जिनमें विविध प्रकार की एवं उच्चकोटि की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसका प्रमाण हमें अयोध्या में एक आचार्य के घर में

शस्त्राभ्यास के लिए रखे गये राम और लक्ष्मण के अस्त्र–शस्त्रों एवं कवच से मिलता है–

सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्यमनि ।

सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण।।

शिक्षा के व्यापक प्रचार–प्रसार होने के कारण अयोध्या में अशिक्षितों का अभाव मिलता है। राजधानी अयोध्या के तैत्तिरीयों के एक शिक्षणालय का उल्लेख मिलता है। राम ने इनके आचार्य अभिरूप को वाहनों, कौशेय वस्त्रों तथा दासियों को उपहार स्वरूप दिया था।

विद्यार्थी एक ही स्थान पर विद्या का अध्ययन नहीं करते थे। वह घूम–घूमकर विविध प्रकार के अस्त्र–शस्त्र और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करते थे। राम ने वनवास के समय महर्षि वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा अगस्त्य से उत्तमोत्तम शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। राज परिवार के कुमारों एवं समाज के अन्य बालकों को गुरूकुलों में एक ही तरह से शिक्षा प्रदान की जाती थी। उनके लिए अलग से कोमल शैया या महलों की सुख–सुविधा की व्यवस्था नहीं थी। उन्हें भी आश्रम के नीति नियमों और अनुशासन में रहना पड़ता था। राम आदि कुमारों को भी परम्परागत शिक्षा प्रणाली के अनुसार शिष्यवृत्ति ग्रहण करनी पड़ी थी।

वेदैश्च ब्रह्मचर्येश्च गुरूभिचोपकर्शितः।।

विनम्र और नियम परायण होना छात्रों का प्रमुख लक्षण था। गुरू और शिष्य के सम्बन्ध अच्छे थे। गुरू के प्रति शिष्य शिष्ट एवं विनम्रतापूर्ण व्यवहार करते थे। विद्यार्थी के सम्पूर्ण क्रिया–कलाप और पठन–पाठन नियमानुसार होते थे। प्रतिपदा को अध्ययन–अध्यापन वर्जित था। इसका उदाहरण हमें अशोकवाटिका में विरहिणी सीता के प्रति हनुमान के कथन से प्राप्त हो जाता है–

प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता।

अर्थात् हनुमान से प्रतिपदा को पाठ करने वाले की क्षीण हुई विद्या के समान कृशकाय सीता को देखा।

राम सम्पूर्ण विद्याओं में निपुण, षड् अंगों सहित सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता और वाण विद्या में निष्णात थे। वह धनुर्वेदविदों में सर्वश्रेष्ठ थे तथा अतिरथी वीर भी उनका विशेष सम्मान करते थे–

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः।

धनुर्वेद के साथ–साथ गन्धर्ववेद की शिक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान था। गन्धर्ववेद में भी पृथ्वी पर उनके समान कोई नहीं था–

गान्धर्वे च भूवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः।

राम ने अपनी प्रारम्भिक सैन्य शिक्षा सुधन्वा से तथा युद्ध की उच्च शिक्षा महर्षि विश्वामित्र से प्राप्त की थी। अगस्त्य ऋषि से भी उन्होंने प्रयोग विधि सहित नवीन शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे।

राजकुमारों को शासन संचालन, शस्त्र विद्या और युद्ध कौशल की शिक्षा प्रायोगिक रूप से दी जाती थी। उन्हें धनुर्विद्या, रथ संचालन, हस्तिविद्या और शासन संचालन में निपुण बनाया जाता था। युद्ध कौशल का व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के निमित्त राजकुमारों को सैन्य अधिकारियों के साथ सैन्य अभियानों से भेजा जाता था। अंगद आदि कुमारों के सैन्य अभियानों में जाने का वर्णन प्राप्त होता है। अतः राजकुमारों के लिए रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध का अभ्यास और रथ संचालन का प्रशिक्षण प्राप्त करना महत्वपूर्ण था।

शिक्षा को व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए गम्भीर विषयों पर संगोष्ठियाँ आयोजित की जाती थीं। इन संगोष्ठियों का आयोजन प्रायः यज्ञों के अवसर एवं यज्ञ स्थल पर किया जाता था। यज्ञों में देश के सुदूर क्षेत्र से ऋषियों, मुनियों, तत्वज्ञों एवं विद्वानों को आमन्त्रित किया जाता था। दशरथ के अश्वमेघ यज्ञ में आमन्त्रित सभी व्यक्ति वेद–वेदांगों के ज्ञाता, व्रतचारी और वाक् कुशल थे–

नाषंगविदत्रासीन्नासीन्नाव्रतो ना बहुश्रुतः।

सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशलो द्विजः।।

दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में विद्या के सभी प्रकारों के अपने–अपने विषयों में विशेष पाण्डित्य रखने वाले विद्वानों के बहुत बड़े संगम का वर्णन प्राप्त होता है।

राजनीति की शिक्षा का भी व्यापक रूप में अध्ययन–अध्यापन होता था। राज्य के महत्वपूर्ण मामलों में मंत्रियों, पुरोहितों और सेनाध्यक्षों के सामूहिक निर्णयों को ध्यान में रखा जाता था। राम को अपने उत्तराधिकारी बनाने के सम्बन्ध में जब महाराज दशरथ ने अपनी सभा के विचारों को जानना चाहा तब सभा के सदस्यों ने विचार–विमर्श कर उनके प्रस्ताव को उचित ठहराया।

आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञाता एवं वैद्य सुषेण का वर्णन आयुर्वेदीय शिक्षा पर प्रकाश डालता है। पुराण, आख्यान, कथा, अन्वीक्षिका आदि विद्याओं का अध्ययन–अध्यापन में महत्वपूर्ण स्थान था। रामायण में बला–अतिबला, स्वच्छन्दबलगामिनी, भूतविनाशिनी, त्रिकालज्ञता आदि रहस्यमयी विद्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। महर्षि विश्वामित्र ने राम को बला और अतिबला नामक मन्त्र दिया था। जिससे उन्हें थकान, ज्वर और अन्य किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने पाये–

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।

न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः।।

शूर्पणखा स्वछन्दबलागामिनी विद्या के प्रयोग में निपुण थी–

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वछन्दबलगामिनी।।

इस विद्या में राक्षस वर्ग का पूर्ण अधिकार था। महर्षि वाल्मीकि भूतविनाशिनी और त्रिकालज्ञता दोनों विद्याओं के ज्ञाता थे।

इस काल में लेखन कला का भी विकास हो चुका था। राम के द्वारा सीता को दिखाने के लिए हनुमान को दी गयी अंगूठी पर उनका नाम लिखा हुआ था–

रामनामांकित चेदं पश्य देव्यंगुलीयकम्

रामायण काल में स्त्रियाँ भी व्यवहार कुशल और सुशिक्षित होती थीं। स्त्रियों की शिक्षा–दीक्षा के प्रबन्ध प्रायः महलों में ही होते थे। उन्हें उतनी ही शिक्षा दी जाती थी, जिससे वह व्रत कथा और सामान्य रूप से पठन–पाठन कर सके। कुछ स्त्रियों के आश्रमों में रहकर अध्ययन–अध्यापन में लगी रहती थी। जिन्हें ब्रह्मवादिनी की संज्ञा प्राप्त थी। स्वयंप्रभा और वेदवती इसी प्रकार की ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ थी। स्वयंप्रभा ऋक्षबिल नामक पर्वत दुर्ग के समीप अपने पिता मेरूसावर्णि के आश्रम में रहती थी। हनुमान को अपना परिचय देती हुयी वह कहती है कि; 'दुहिता मेरूसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा'।। स्वयंप्रभा का सर्वज्ञ ब्रह्मवादिनी के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार का वर्णन महर्षि कुशध्वज की पुत्री वेदवती का भी आता है। इसने भी वेदादि की शिक्षा ग्रहण कर आजीवन तापसी की तरह रहते हुए ऋषि मुनियों की सेवा में अपना जीवन बिताया।

इनके अतिरिक्त शबरी, अनसूया आदि तपसियों का भी वर्णन आता है।

सीता एक सुशिक्षित बुद्धिमान और आदर्श पतिव्रता नारी थी। हनुमान द्वारा दी गयी अंगूठी पर राम के नाम को वह पढ़ लेती हैं। उनके शिक्षा के लिए व्यक्तिगत रूप से किसी गुरू या आश्रमों में जाकर शिक्षा प्राप्ति का उल्लेख नहीं मिलता है। उनकी शिक्षा–दीक्षा महल के बड़े–बूढ़े एवं महलों में आने वाले ऋषियों, महर्षियों एवं विद्वानों के संसर्ग एवं कथा वार्ताओं द्वारा हुई थी। सीता कहती है कि वन गमन के समय मेरी सास कौशल्या ने मुझे जो कर्तव्य का उपदेश दिया था वह उस प्रकार से मेरे हृदय में स्थिर है–

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्!

समाहितं हि मे श्वश्वा हृदये यत् स्थिरं मम्।।

इसके उनके कुशाग्र बुद्धि होने का प्रमाण मिलता है। तभी तो आदर्श नारी का जो प्रतिमान उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह दुर्लभ है।

रामायण में वानरों और वन्य जातियों का भी बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उनका भी समाज सुशिक्षित एवं सभ्य था। महर्षि वाल्मीकि द्वारा किष्किन्धा नगरी और मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज शरम, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, हनुमान, वीरबाहु, सुबाहु, महात्मा, नल, कुमुद, सुषेण, जाम्बवान्, दधिमुख, नील, सुपाटल और सुनेत्र इन वानरों की सभ्यता एवं समृद्धि को द्योतित करता है। सीता के द्वारा हनुमान के विषय में कहा गया–

अतिलक्षणसम्पन्नं माधुर्यगुणभूषणम्।

बुद्ध्या ह्यष्टांग्या युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम्।

अर्थात् तुम्हारी वाणी उत्तम लक्षणों से सम्पन्न, माधुर्य गुण से शोभित तथा बुद्धि अष्टांगों से अलंकृत है। वह वाक्य वानरों के सभ्य होने का परिचायक है। इसके अतिरिक्त सीता ने और भी बहुत से सुन्दर गुणों से युक्त कहा है।

वानर पुरूषों की तरह वानर स्त्रियाँ भी विदुषी होती थीं। वालि की पत्नी तारा मंत्रों की ज्ञाता थी। बालि के युद्ध भूमि में जाते समय वह स्वस्तिवाचन करती है।

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।।

रामायण में राक्षस जाति का वर्णन प्राप्त होता है, जो अपने अमानवीय गुणों के लिए प्रसिद्ध थें। वे भी अस्त्र–शस्त्रों के ज्ञाता, वीर, योद्धा और बलशाली हुआ करते थे। बाल्मीकि ने मारीच और सुबाहु को बलवान् एवं सुशिक्षित के रूप में चित्रित किया है–

मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ।

महान् तपस्वी रावण वेद–वेदांगों का ज्ञाता, अस्त्र–शस्त्रों में निपुण एवं पराक्रमी था। सीता हरण के लिए आया हुआ रावण सीता को देखकर वेद मंत्रों का उच्चारण करने लगा–

दृष्ट्वा कामशराविद्धो ब्रह्मघोषमुदीरयन्।।

रावण धर्म का ज्ञाता, कृतज्ञ, राजधर्म का विशेषज्ञ, अच्छाई और बुराई में भेद को जानने वाला तथा परमार्थ का ज्ञाता था–

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च राजधर्मविशारदः।

परावरज्ञो भूतानां त्वमेव परमार्थवित्।।

इन्द्रजीत की प्रशंसा करते हुए रावण कहता है–

भुजवीर्याभिगुप्तश्च तपसा चाभिरक्षितः

न तेऽस्त्यशक्यं समरेषु कर्मणां न तेऽस्त्यकार्य मतिपूर्वन्त्रणे।।

इससे स्पष्ट होता है कि राक्षस महान बलशाली होने के साथ–साथ तपस्वी और युद्ध विद्या के गूढ़ रहस्यों के अच्छे जानकार थे। रावण की सभा भी बुद्धिमान नीतिज्ञ मंत्रियों से सुशोभित थी।

इसके अतिरिक्त रामायण में निषाद, शबर आदि वन्य जातियों तथा यक्षों, नागों एवं किन्नरों का उल्लेख मिलता है ये जातियाँ भी व्यवहार कुशल, बुद्धिमान और यत्किंचित शिक्षित थीं। रामायण में शबरी नामक तपस्विनी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। वह वर्णवाह्य होने पर भी ज्ञान सम्पन्न नारी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि के समय में सभी विद्याओं एवं कलाओं के संवर्धन एवं विकास के लिए राजाश्रय प्राप्त था तथा सभी लोग शिक्षित थे। तत्कालीन शिक्षा के आदर्श एवं व्यवहार में समन्वय था। जिसमें व्यष्टि का नहीं बल्कि समष्टि का चिन्तन प्रमुख था। जो भौतिक उन्नति का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करने के साथ–साथ आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती थी। इसी कारण वाल्मीकिकालीन शिक्षा आज भी आकर्षण का केन्द्र बनी हुयी है।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. वा0रा0 2/21/41।
2. वा0रा0 2/45/4।
3. वा0रा0 1/6/14।
4. वा0रा0 2/1/21।
5. वा0रा0 4/18/13।
6. वा0रा0 2/111/3।
7. वा0रा0 2/91/18।
8. वा0रा0 2/32/21।
9. वा0रा0 2/31/31।

ध्वनि सिद्धान्त : सामान्य परिचय

'शोध'

राकेश कुमार सिंह
शोध–छात्र, हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि सिद्धान्त का महत्तव सर्वोपरि है। अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण वाला यह काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त विश्व के किसी भी भाषा में रचे गये साहित्य का निकष बनने की संपूर्ण संभावना रखता है। इस सिद्धान्त के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य आनन्दवर्धन हैं। आनन्दवर्धन के पूर्व रस, अलंकार और रीति को काव्यात्मा मानकर विषय – विवेचन हो चुका था। रस सिद्धान्त के आदि आचार्य भरत और अलंकार एवं रीति के क्रमशः भामह और वामन थे। वामन ने रीति को काव्यात्मा स्वीकार करते हुए कहा है– 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। कुंतक ने काव्य का आत्मभूत तत्त्व वक्रोक्ति को माना है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य के प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया, लेकिन इन सिद्धान्तों का चरमोत्कर्ष ध्वनि सिद्धान्त में ही देखा जा सकता है। इस सिद्धान्त ने अपनी व्यापकता में रस, अलंकार और रीत्यादि को अपने भीतर समेट लिया।

आनन्दवर्धन नवीं शताब्दी में हुए थे। व्याकरणशास्त्र का उन्होंने गंभीरता से अध्ययन किया था। आचार्य के साथ–साथ वे स्वयं कवि थे। कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में आनन्दवर्धन को एक कवि के रूप में याद किया है।

ध्वनि की परिभाषा करते हुए आनन्दवर्धन लिखते है–

"यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुयसर्जनीकृत स्वार्थौं।

व्यङ्क्त काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।"

अर्थात् जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रतिभा–जन्य, स्वादु, सरस, प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं। उस अर्थ से यहाँ तात्पर्य प्रतीयमान अर्थ से है क्योंकि 'तमर्थम्' के विषय में आनन्दवर्धन लिखते हैं "प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् यत्तत्प्रसिद्धवयवाति रिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।"[5] तथा सरस्वती स्वादु तदर्भवस्तु निष्यन्दनामा महतां कवीनाम्। अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।[6] अर्थात् महाकवियों के वचनों में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो वह प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त रूप में स्त्रियों मे लावण्य की भाँति विशेष भासित होता है।

उस स्वादु (रसस्वाभाव रूप) अर्थ वस्तु को प्रवर्तित करती (प्रवाहित करती) हुई महाकवियों की सरस्वती (वाणी) अलौकिक, परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि के पाँच विभिन्न ; किन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थ किये।

क. ध्वनति ध्वनयति यः सव्याजकः शब्दो ध्वनिः – जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

ख. ध्वनति ध्वनयति वायः स व्यांजकोऽर्थः ध्वनिः – जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

ग. ध्वन्यते इति ध्वनिः – जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है।

घ. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः– जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है।

ङ ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः– जिससे वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते है।

वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य को ध्वनि मानकर चलने वाले आचार्यों ने रस मे चरम परिणति दिखाई है। ध्वनि की सूक्ष्मता अनुरणन के दृष्टान्त से आसानी से समझी जा सकती है। जिस प्रकार घण्टा बजने पर आघात के साथ उसके कुछ समय बाद तक सूक्ष्म ध्वनि सुनायी पड़ती है जो मनोहर होती है उसी प्रकार किसी शब्द के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ की प्रतीति के बाद जो अन्य अर्थ प्रतीत होता है वह उसी प्रकार सूक्ष्म और रमणीय होता है। जिस प्रकार लावण्य की सत्ता शरीर के अंगों से पृथक् मानी जाती है, वह उन अंगों में रहनेवाला आंतरिक सौन्दर्य है उसी प्रकार ध्वनि की सत्ता भी अलंकार, गुण एवं रीति इत्यादि से पृथक् हैं–

अर्थात् व्यंग्य–व्यंजक भाव के बहुत प्रकार के संभव होने पर भी कवि रसादि रूप अर्थ में सावधान हो।

अर्थ के आनन्त्य के लिए व्यंग्यक व्यंजक भाव के विचित्र होने पर भी अपूर्व अर्थ के लाभ का इच्छुक कवि रसादिमय एक व्यंग्य–व्यंजक भाव में यत्नपूर्व ध्यान दें।

ध्वनिकार रस के समान ही औचित्य की सत्ता स्वीकार करते है किन्तु रस की व्यंजना में साधन रूप में। जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती हैं ध्वनिकाव्य वहीं होता है। ध्वनि की काव्य का आत्मतत्त्व है। प्रत्येक कालजयी कवि रचना में इसे सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि का उत्स व्याकरण (स्फोट–दर्शन) से स्वीकार किया है। यह आनन्दवर्धन की ही बुद्धिमता लगती है कि उन्होंने ध्वनि–सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए ध्वनि शब्द का आधार लेकर व्याकरण के स्फोट–दर्शन से जोड़ दिया। अन्यथा व्याकरण दर्शन ध्वनि सिद्धान्त के लिए कोई पीठिका नहीं जुटाता। वहाँ तो उस व्यंजनावृत्ति तक को भी बाद में स्वीकार किया गया जो आनन्दवर्धन के सिद्धान्त की रीढ़ है। ध्वन्यालोक

पर लोचन टीका लिखने वाले अभिनवगुप्त ने वैयाकरणों के स्फोट–सिद्धान्त के साथ आलंकारिकों के ध्वनि–सिद्धान्त का समर्थन किया है। स्फोट का अर्थ है – 'स्फुटति अभिव्यक्ती भवती अर्थः यस्मात् इति स्फोटः' जिससे अर्थ का स्फुटन (अभिव्यक्त) होता है अथवा 'स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णौरिति स्फोटः (वर्णों से जो अभिव्यक्त हो, वही स्फोट है)। वास्तव में स्फोट को समझने के लिए शब्द–श्रवण की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से सम्भव होती है – संयोग से, वियोग से और शब्दों से। किसी वस्तु का किसी वस्तु के साथ संयोग होने से भी शब्द उत्पन्न होता है। ठीक इसी प्रकार जिह्वा आदि के संयोग–वियोग से भी शब्दों की उत्पत्ति होती है। कुछ दूरी पर बैठकर बोलनेवाले का वही शब्द श्रोता को नहीं सुनाई पड़ता वरन् वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है और अपने नष्ट होने से पूर्व दूसरे शब्द को उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार दूसरा शब्द तीसरे शब्द को, तीसरा चौथे को एवं चौथा पाँचवें को इत्यादि। न्याय की भाषा में इसे वीचिसन्तान न्याय कहते हैं। जिस प्रकार किसी सरोवर के शांत जल में कंकर फेंकने पर एक छोटा सा वर्तुलाकार घेरा तैयार हो जाता है, वही एक तरंग से दूसरे को उत्पन्न करते हुए समस्त सरोवर में व्याप्त हो जाता है। ध्वनि को समझाने के लिए एक दूसरा प्रसिद्ध दृष्टान्त घण्टानुरणन का है। जिस प्रकार घण्टे पर चोट करने पर ध्वनि चोट के कुछ समय बाद तक विद्यमान रहती है और क्रमशः मधुर होती जाती है वही स्थिति साहित्य में शब्द में होती है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ काव्य प्रकाश में स्फोट शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'गौः' शब्द में 'ग्', 'औ' विसर्ग में तीन वर्ण है जो गौः पद का बोध कराता है वह स्रोत से सुनायी देनेवाली ध्वनि नहीं, उससे व्यक्त मानस स्फोट है। कोई भी वर्ण दो क्षण से अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता। तात्पर्य यह कि विसर्ग तक आते–आते प्रथमवर्ण 'ग' की ध्वनि लुप्त हो जाती है। ऐसी दशा में पूर्व–पूर्व वर्णों के संस्कार, अंतिम वर्ण के उच्चारण के साथ मिलकर शब्द बोध कराते हैं। भर्तृहरि ने इसी बात का समर्थन किया है कि अनिर्वचनीय एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल अनुपाख्येय प्रत्ययों से उस शब्द में जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है।[2] इस तरह वैयाकरणों ने 'व्यंजक' को ध्वनि माना तब आलंकारिकों ने भी उसी समानता पर व्यंजक शब्द और अर्थ को भी अपने यहाँ ध्वनि कहा। व्यंजकत्वरूप व्यापार को ध्वनि मानने का वैयाकरणों का आधार यह है कि जिन वर्णों का हम उच्चारण करते हैं उनकी अभिव्यक्ति में द्रुत एवं विलम्बित आदि प्रकारों से अन्तर पड़ जाता है। कभी धीरे और कभी शीघ्र बोलने से शब्द में अन्तर होते हुए भी अर्थ में अन्तर नहीं होता। हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं वे वैकृत शब्द हैं, उन वैकृत शब्दों के उच्चारण के बाद उत्पन्न होनेवाला प्राकृत शब्द नित्य स्फोटरूप शब्द है। इस प्रकार उच्चारणरूप प्रसिद्ध व्यापार के अतिरिक्त हमें द्रुत–विलम्बित आदि वृत्तिभेद रूप अधिक व्यापार जान पड़ता है। उस अतिरिक्त व्यापार को भी वैयाकरणों ने ध्वनि माना है। इसी आधार पर आलंकारिकों ने इन चारों के समुदाय रूप काव्य को भी ध्वनि की संज्ञा दी है। इन्हीं आधारों पर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की नींव डाली थी जिसका विकास पं. जगन्नाथ तक दिखाई देता है।

व्यंजना का स्वरूप एवं स्थापना :

ध्वनि–सिद्धान्त का विशाल भवन व्यंजना के अवलम्ब पर है। ध्वनि–सिद्धान्त के प्रतिष्थापक आचार्य आनन्दवर्धन को घोर विरोधियों का सामना करना पड़ा था। जैसा कि ध्वन्यालोक के प्रारम्भ मे ही ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए ध्वनि के विरोधियों का उल्लेख किया है। (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वस्तस्याभावं जगदुर परे भाक्तमाहुस्तमन्ये। केचिद् वाचां स्थितभविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।) पता चलता है तीन प्रकार के उस समय के ध्वनि–विरोधी आचार्य थे जो अपने तर्कों द्वारा इस नवीन सिद्धान्त का विरोध कर रहे थे। एक वर्ग यह मानकर चल रहा था कि अभिधा में ही व्यंजना का अन्तर्भाव है। दूसरा वर्ग उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानता है, इन लोगों को 'ध्वन्यालोक' में भाक्त कहकर संबोधित किया गया है। एक तीसरा वर्ग भी है जो ध्वनि को सहृदय–संवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अगोचर मानता है अर्थात् उसकी परिभाषा को असंभव मानता है। लोक प्रचलित धारणा एवं विरोधियों की कल्पना कर आनंदवर्धन ने इसका उत्तर भी दिया था; फिर भी आचार्य भट्टनायक, महिमभट्ट तथा कुंतक आदि ने रसास्वादन के लिए भावकत्व और भोजकत्व दो प्रकार की शक्ति की अवधारणा प्रस्तुत की और व्यंजना का निषेध किया। इन दोनों शब्द शक्तियों का न तो कोई शास्त्रीय आधार था और न ही इसका औचित्य ही। अतः यह आगे नहीं चला। आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनि का अनुमिति मानकर उसको (ध्वनि को) अस्वीकार किया। उन्होंने इसके लिए अभिधा को ही पर्याप्त माना। इसके पक्ष में अपने तर्क भी प्रस्तुत किये। आचार्य कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना। सच पूछें, तो उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त से बहुत कुछ लेकर वक्रोक्ति–सम्प्रदाय की स्थापना की थी। कहीं–कहीं तो उन्होंने ध्वन्यालोक के उदाहरण तक को सीधे–सीधे ग्रहण कर लिया है। अतः उनका विरोध प्रबल नहीं है और विरोधी से अधिक वे अनुकर्त्ता से जान पड़ते है। आचार्य भट्टनायक का उत्तर आचार्य अभिनव गुप्त ने दिया और अन्य आचार्यों के आक्षेपों का आचार्य मम्मट ने।

प्रथम वर्ग के अभाव वादियों के अनुसार 'शब्द से उसी अर्थ का प्रतिपादन होता है जो संकेतित होता है अर्थात् समय या संकेत के बल या सहकर से ही शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है, और वह अर्थ 'वाच्य' कहलाता है। इसके अतिरिक्त जब शब्द का कोई अर्थ नहीं होता, तब तक एक व्यंग्य अर्थ की कल्पना गलत पक्ष होगा। उनका दूसरा तर्क है कि ध्वनि तत्त्व काव्य की कमनीयता ही तो बढ़ाता है; अतः सौन्दर्य – प्रसाधनभूत अलंकारों में ही अंतर्भूत हो जाता है। ध्वनिवादी यदि ध्वनि को नया अलंकार कहें, तो कोई आपत्ति नहीं; किन्तु इसे नवीन तत्त्व

के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आनंदवर्धन ने माना कि अलंकार वाच्यार्थ एवं वाचक शक्ति आदि को सुन्दर बनाते हैं, उनसे यह ध्वनि तत्त्व पृथक् है। इसका कारण यह है कि यह आत्मा स्थानीय है। अतः चारूत्व हेतु अलंकारों आदि से यह भिन्न है। अभिप्राय यह कि ध्वनितत्त्व में गुण, रीति, अलंकार आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। दूसरे तर्क का उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है कि यह ध्वनि तत्व रामायण, महाभारत आदि सभी सत्काव्यों में विद्यमान है। अतः सहृदय साहित्यिकों के मानस में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए इसका समारम्भ किया है। तीसरे तर्क का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि युक्त ध्वनि काव्य में उनका व्यंग्य व्यंजक भाव संबंध होता है।[2] ध्वन्यर्थ की शोभा बढ़ायेंगे, वे ध्वनि के अंग माने जायेंगे। अतः यहाँ ध्वनि अंगी होगा और अलंकार अंग।

लक्षणा में ध्वनि को गतार्थ माननेवालों को आनंदवर्धन ने कहा कि ध्वनि और लक्षण पृथक्–पृथक् अस्तित्व रखते हैं। लक्षणा का क्षेत्र सीमित और व्यंजना का क्षेत्र विस्तृत है। रूढ़ लक्षणा में लक्षणा होने के बाद भी ध्वनि नहीं होती और विवक्षित परवाच्य ध्वनि में बिना लक्षण के भी ध्वनि होती है। अतएव अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष के कारण लक्षणा को ध्वनि का लक्षण कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता। उच्चरित शब्दों में ही व्यंजना हो, ऐसा भी नहीं क्योंकि शब्दोच्चारण के बिना भी कटाक्ष आदि के द्वारा व्यंजना व्यापार का उपयोग प्रसिद्ध है।

ध्वनि का बोध सहृदयों को ही होता है। अनिर्वचनीय होने से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, इसका स्पष्ट उत्तर है कि जब तक इस तत्व का विकास नहीं हुआ था तब तक यह स्थिति थी, अब ध्वनिकार द्वारा विस्तृत व्याख्या कर देने पर अनिर्वचनीय मानना युक्तियुक्त नहीं, ऐसा होने पर किसी भी वस्तु का लक्षण किया जाना संभव नहीं होगा।

इस प्रकार व्यंजना की स्थापना कर आचार्य आनंदवर्धन ने साहित्य – जगत् को नवीन चिंतन प्रदान किया।

प्रतीयमान अर्थ के प्रकार – आनंदवर्धन ने लिखा है कि वह प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में स्त्रियों में अलंकार आदि से भिन्न, अवयवों से अतिरिक्त लावण्य की भाँति कुछ अन्य ही वस्तु है। वह प्रतीयमान अर्थ, वाच्यार्थ सामर्थ्य से कभी वस्तुध्वनि के रूप में, कभी अलंकार ध्वनि के रूप में और कभी रसरूप ध्वनि के रूप में प्रकट होकर भिन्न–भिन्न रूप धारण करता है। वाच्यार्थ किसी भी पद का एक ही होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण, वक्ता अथवा श्रोता की विशेषता से अनेक हो सकता है। वाच्यार्थ से ज्ञानवान् पुरूष को केवल अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु व्यंग्यार्थ से सहृदय व्यक्तियों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ के तीनों रूप (वस्तु, अलंकार और रस) वाच्यार्थ से भिन्न होते है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि–विरोधी आचार्यों का खण्डन करते हुए लिखा है कि वाच्यार्थ एवं वाचक शब्द के चमत्कार हेतु जो अलंकार हैं वे ध्वन्यर्थ की शोभा बढ़ाते है, अतः वे ध्वनि के अंग स्वीकृत होंगे। ध्वनि अंगी है और अलंकार अंग।

आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक है कि उसकी सभी मान्यताओं को परवर्त्ती विद्वानों ने यथावत् स्वीकार किया है। ध्वनि–भेद के आधार एवं उनके प्रकारों के निर्धारण में भी उन्होंने असाधारण कौशल का परिचय दिया है। प्रथमतः ध्वनि के दो भेद दिये गये हैं– अविवक्षित वाच्य और विवक्षित पर वाच्य। प्रथम में वाच्य की विवक्षा नहीं होती। इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते है। इसके दो भेद आर्थान्तर संक्रमित ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि है।

विवक्षित परवाच्य ध्वनि अभिधामूला ध्वनि है। इसके दो भेद हैं– असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ ज्ञान के बाद व्यंग्यार्थ ज्ञान इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें उस क्रम का पता नहीं चलता। जैसे सौ गुलाब के फूल की एकत्र पंखुड़ियों को एक सुई से एक साथ भेद देने पर उनमे क्रम होते हुए भी पता नहीं चलता, उसी प्रकार असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में क्रम का पता नहीं चल पाता। इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसन्धि, भावशवलता आदि का ग्रहण होता है। संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि में वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि आती है।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति से उत्पन्न होने के कारण क्रमशः शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक एवं उभय शक्तिमूलक–तीन भागों में विभक्त हो जाती है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वस्तु और अलंकार में व्यक्त होने से दो प्रकार की होती है। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के स्वतः संभवी कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध और कवि निबद्धवत् प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध तीन भेद है। ये वस्तु और अलंकार मुक्त होने से छः प्रकार के हो जाते हैं। इन छः भेदों में भी प्रत्येक में वस्तु अलंकार व्यंग्य होते हैं। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य ध्वनि की संख्या 12 तक पहुँच जाती है। पहले के छः भेद मिलकर कुल 18 हुए। इनके भी पदगत और वाक्यगत होने से संख्या में वृद्धि हो जाती है। मम्मट ने 51, अभिनवगुप्त ने 35 भेद माने हैं। ध्वनि के कुल भेदों की संख्या (संसृष्टि और संकर भेद से गुणन के आधार पर) अभिनव गुप्त 7420, मम्मट 10455 तथा कविराज विश्वनाथ 5355 स्वीकार करते है। 51 भेदों के बाद भी प्रभेद गणना में कविराज विश्वनाथ की गणना को गणित सम्मत माना जा सकता है।

❖❖❖

1. काव्यालंकर सूत्र– वामन, व्याख्याकार – केदारनाथ शर्मा, 2/6, पृ. 16
2. वक्रोक्ति काव्यजीवितम् – 1/7, आचार्य विश्वेश्वर, पृ0 18
3. बहुवचन – अंक 4 – डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का लेख, पृ0 114
4. ध्वन्यालोक – 1/13 – व्याख्याकार – जगन्नाथ पाठक, पृ0 102

अशोक की धम्म नीति का राजनैतिक आधार

संजीव कुमार
प्रवक्ता, वसंत महिला महाविद्यालय
राजघाट, वाराणसी

शोध

सम्राट अशोक प्राचीन भारत के महान् शासकों में जाने जाते हैं। उन्होंने भारतीय राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में एक नई अवधारणा प्रतिपादित किया, जिसे हम धम्म के सिद्धान्त के रूप जानते है। धम्म संस्कृत शब्द 'धर्म' का समशब्द है। जिसका अर्थ सर्वजनीय नियम या धार्मिकता/सदाचारिता है। परन्तु धम्म का व्यापक अर्थ था, जैसा कि अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट होता है। धम्म वर्तमान काल का रिलीजॅन (religion) नहीं है। अशोक धम्म को धार्मिक सोच से प्रेरित अच्छे कर्मो के द्वारा उत्पन्न श्रद्धा या निष्ठा के रूप में ही नहीं देखते थे, परन्तु उसे सामाजिक उत्तरदायित्व के अभिवृत्ति के रूप में देखते थे, जिसका उद्देश्य सामाजिक तनाव एवं साम्प्रदायिक संघर्ष को खत्म करना था।

अशोक के धम्म के आधार एवं प्रकृति को लेकर इतिहासकारों में एकमत नहीं है। डी0 आर0 भण्डारकर, ई0 सेनार्ट (E. Senart), श्रीमति आर0 डेविडस (Mrs. Rhys Davids) का मत है कि धम्म पूर्णतः बौद्ध धर्म था जैसा कि भगवान बुद्ध ने प्रचार किया था। भण्डारकर का मानना है कि धम्म कुछ नहीं बल्कि धर्म निरपेक्ष बौद्ध धर्म (Secular Buddhism) था। उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के सूक्तों के आधार पर यह कहा है कि बौद्ध धर्म के दो पक्ष थे – धम्म भिक्षुओं के लिए और धम्म गृहस्थों के लिए। अशोक के धम्म में बौद्ध मठ से जुड़े सिद्धान्त – चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, निर्वाण वगैरह का चर्चा नहीं मिलता है क्योंकि यह आम व्यक्ति यानि गृहस्थों के लिए था। कुछ विद्वान जैसे नीककण्ठ शास्त्री का कहना है कि अशोक का धम्म बौद्ध धर्म है– जिसमें उसने सुधार किये एवं सरल बना दिया। परन्तु यह विचार अमान्य प्रतीत होता है क्योंकि अशोक ने अभिज्ञता से बौद्ध धर्म में कोई भी सुधार या परिवर्तन नहीं किया था। अशोक का धम्म न तो बौद्ध धर्म था और न ही कोई अन्य धर्म। यह कान्धार में मिले यूनानी–अरामिक (Greek-Aramaic) अभिलेख से स्पष्ट होता है क्योंकि इससे धम्म के लिए उपयुक्त यूनानी शब्द इयूसिबिया (eusebeia) है, जिसका अर्थ होता है – श्रद्धा, निष्ठा, सम्मान और न की धर्म या ईश्वर–विश्वास। ई0 लामाटे (E. Lamotte), प्रसिद्ध बौद्ध विशेषज्ञ का भी मानना है कि अशोक के अभिलेखों में वर्णित उसका धम्म बौद्ध सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है।

डा0 वी0 ए0 स्मिथ (V. A. Smith) ने यह स्पष्ट किया है कि अशोक का धम्म किसी एक विशेष धर्म या सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं था, परन्तु इसके सिद्धान्त सभी भारतीय धर्मों में विद्यमान थे। डा0 आर0 के0 मुखर्जी भी इस मत से सहमत है। उनका कहना है कि अभिलेखों में वर्णित धम्म कोई विशेष धर्म या धार्मिक व्यवस्था नहीं था, बल्कि एक नैतिक नियमावली है जो किसी भी जाति या सम्प्रदाय से स्वतन्त्र था, वह सभी धर्मों का सार था।

अतः हम यह देखते है कि विभिन्न विद्वानों नें अपने मतों में अशोक के धम्म को धार्मिक, सामाजिक और नैतिक आधार प्रदान किया है। परन्तु रोमिला थापर एवं जी0 एम0 बोन्गार्ड–लेविन (G.M. Bongard-Levin) जैसे इतिहासकारों ने धम्म को एक राजनैतिक आधार नियत किया है। जे0 इ0 फ्लीट (J.E. Fleet) का भी मानना है कि धम्म राजधर्म था जिसमें राजनैतिक–नैतिक सिद्धान्तों का समागमन था। अशोक एक कुशल शासक था और वह समकालीन समस्याओं को भली–भाँति समझता था। अतः उसने धम्म की नीति का प्रतिपादन किया ताकि समस्याओं का निदान हो सके और साथ ही साम्राज्य का सुदृढ़ीकरण। धम्म का राजनैतिक आधार था परन्तु हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते हैं कि राज्य का कल्याण एवं प्रजा का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक उत्थान भी अशोक के नीति में स्थान रखते थे। अतः धम्म की नीति का निः सन्देह सामाजिक नैतिक आधार था एवं यह एक आचार–संहिता था। धम्म ने लोगो के बीच मानसिक अभिवृत्ति को सर्वोच्च स्थान दिया था। इसमें मानवतावादी विचार की झलक देखने को मिलती है जो उस समय की जरूरत थी। धम्म के विचारधारा के तहत मौर्य साम्राज्य के संभ्रमित विभिन्नता को एक अभिसरण बिन्दु प्रदान करने की कोशिश की गई थी।

धम्म के विचारधारा को पूर्णतः समझने के लिए हमें उन समकालीन परिस्थितियों की विवेचना करनी होगी, जिसमें इस नीति का जन्म हुआ। अशोक के मानस पटल पर यह विचार शायद इस लिये आया क्योंकि वह धम्म को समकालीन समस्याओं के समाधान के रूप में देख रहा था। अशोक के व्यक्तिगत सोच और तत्कालीन परिवेश का भी इस नीति के निर्धारण में योगदान था। मौर्य शासकों ने अशास्त्रीय मतों को संरक्षण प्रदान किया, परन्तु उन्होनें ब्राह्मण धर्म को किसी भी तरह प्रताड़ित भी नहीं किया। धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण मौर्य काल में देखने को मिलता है।

समकालीन सामाजिक पृष्ठभूमि में, शुद्र एवं जातिच्युत व्यक्तियों के तुलना में ऊपर के तीन वर्ण – ब्राह्मण , क्षत्रिय एवं वैश्य को विशेषाधिकार प्राप्त थे। हालांकि वैश्य द्विज था, परन्तु उसे अपने विशेष स्थान के कारण कुछ खास फायदा नहीं हो रहा था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण उसे सामाजिक स्तर पर अपने से अलग रख रहे थे। इस काल में, आर्थिक दृष्टि से, वैश्य शक्तिशाली हो रहा था क्योंकि व्यापार और वणिज्य पर उनका नियंत्रण था। अतः वैश्य वर्ण एवं समाज के उच्च दो वर्णों (ब्राह्मण एवं क्षत्रीय) में टकराहट अवश्यंभावी था। नगरीय केन्द्रों में श्रेणी

(guild) प्रमुखों का नगरीय संस्थाओं पर नियंत्रण था परन्तु सामाजिक नियम उन्हें प्रतिष्ठा का स्थान प्रदान नहीं कर रहा था जो वो आर्थिक रूप से सबल होने के कारण चाह रहे थे। अतः वैश्य लोगों ने अशास्त्रीय मतों को, खासकर बौद्ध धर्म को अपनाया और ब्राह्मण धर्म के वर्ण व्यवस्था को नकारा। शायद इस कारण ब्राह्मणों एवं अशास्त्रीय मतों के बीच तनाव उत्पन्न हुआ होगा। किसी भी केन्द्रीयकृत राजतंत्र में लोगो के बीच एकता अनिवार्य है ताकि साम्राज्य सुदृढ़ रह सके।

एक अत्यधिक केन्द्रीयकृत राज–व्यवस्था और विशाल साम्राज्य के कारण भी मौर्य–राज्य को समस्या का सामना करना पड़ रहा था। केन्द्रीयकृत नौकरशाही को ज्यादा पदाधिकारियों की जरूरत हो रही थी, जिसके कारण राजकोश पर काफी दबाव पड़ रहा था। राजकोश को हर हालत में भरना जरूरी था। यह तभी सम्भव था जब लोगो से ज्यादा कर वसूली की जाये। अतः विद्रोह की सम्भावना हो सकती थी। अतः राजा के द्वारा प्रजा को दिशा–निर्देश (धम्म के द्वारा) देकर, इस सम्भावना को कम करने की कोशिश की गई। एक विशाल साम्राज्य जिसमें विभिन्न मत एवं सम्प्रदाय के लोग हो उन्हें सुशासित करने हेतु एक मार्ग प्रेषित करना जरूरी था, जो सभी लोगो को स्वीकार एवं मान्य हो।

अतः मौर्य साम्राज्य के लोगों को एक सार्वजनिक परिप्रेक्ष्य की जरूरत थी जो उन्हें एकजुट कर सके और एकता का अहसास करा सके। मौर्य समाज की संरचना जो विषमजातीय था एवं आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक शक्तियाँ एक–दूसरे के विरूद्ध कार्य कर रही थी, इस परिस्थिति में यह पहल राजा के तरफ से आनी चाहिये ताकि वह सफल हो सके। अशोक ने समस्याओं के सभी पहलूओं पर ध्यान दिया और उसका परिणाम था उसकी धम्म की नीति जिसका व्यावहारिक लक्ष्य था– विभिन्न गुटों को एकजुट करके राज्य का सुदृढ़ीकरण करना।

धम्म के सिद्धान्त सभी धार्मिक मतों के लोगो को स्वीकार था। धम्म को विशिष्ठ नियम एवं विनिमय से प्रभावित नहीं किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि धम्म के ब्यौरा को जान–बूझकर अस्पष्ट छोड़ा गया था, सिर्फ उसके सामान्य नीति को ही दर्शाया गया जो सामान्य व्यवहार के निर्माण हेतु अनिवार्य था।

धम्म के प्रमुख सिद्धान्तों में, अशोक ने सहनशीलता पर अत्यधिक बल दिया। सहनशीलता दो प्रकार की थी – सहनशीलता लोगों के बीच एवं सहनशीलता सोच एवं विचार के स्तर पर। अशोक के शासन काल में विभिन्न सम्प्रदाय – ब्राह्मण, श्रवण, आजिवक, इत्यादि थे जिनमें परस्पर वैमनस्यता एवं प्रतिद्वंद्विता थी। यह साम्राज्य को कमजोर कर सकता था और साथ ही साम्राज्य के सामाजिक आधार को भी संकुचित कर रहा था। अशोक विभिन्न मतों में मेल मिलाप के द्वारा शान्ति स्थापित करना चाहता था। शान्तिपूर्ण माहौल साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण में सहायक साबित होता, अतः अशोक ने धार्मिक सहनशीलता के सिद्धान्त को अपनाया और धम्म में इसे प्रमुखता प्रदान की। उसने प्रजा से अपील की कि वो परस्पर वैमनस्यता को त्याग कर, एक दूसरे के प्रति सहनशील बनें। सातवें मुख्य शिला अभिलेख में उसने कहा "सभी सम्प्रदाय के लोग सभी जगह रहे" ताकि वो एक–दूसरे को समझ सके और एक दूसरे के प्रति सहनशीलता विकसित कर सकें। उसने लोगो से दिल में पवित्रता एवं अभिव्यक्ति में संयम बरतने को कहा जब वो दूसरे सम्प्रदाय के लोगों के साथ बातचीत करें। अशोक ने लोगों द्वारा अपने धर्म की सर्वोच्चता एवं दूसरे के धर्म की भर्त्सना करने के व्यवहार की निन्दा की। सहनशीलता का उद्देश्य सिर्फ राजनैतिक ही नहीं था। इसके मानवीय पहलु भी थे। दास एवं सेवक के प्रति विचारशील होना, माता–पिता के आज्ञा का पालन करना, मित्रों, परिचितों, रिश्तेदारों के साथ–साथ पुरोहितों एवं भिक्षुकों के प्रति उदारता – ऐसे व्यवहार के लिए अशोक ग्यारहवें मुख्य शिला अभिलेख में लोगों से निवेदन करता है। अशोक परिवार एवं समुदाय दोनों में ही एक सद्भावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाह रहा था। परन्तु अशोक ने लोगों के द्वारा, खासकर महिलाओं के द्वारा पालन किये जाने वाले अंधविश्वास एवं अप्रासंगिक अनुष्ठान की भर्त्सना की। दूसरी तरफ अशोक बौद्ध संघ में मठ के नियमों का पालन कठोरता से चाह रहा है और स्पष्ट रूप से यह चेतावनी देता है कि जो भिक्षुक नियम का उलंघन करते पाये जायेंगे, उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया जायेगा। यहाँ पर हमें सहनशीलता का अभाव देखने को मिलता है। अपने शासन के अन्तिम दौर में अशोक धार्मिक सहनशीलता के नीति से विचलित हो गया था और बौद्ध समर्थक की नीति का पालन करने लगा था।

अतः हम देखते है कि मत विभेद पर रोक शायद आम शान्ति हेतु लगाया गया था। परन्तु हम यह तर्क दे सकते है कि सहनशीलता तभी हासिल हो सकता है जब हम अपने मत खुलकर व्यक्त कर सकें और अपने भेद या अन्तर को स्वीकार करें और साथ ही साथ एक दूसरे के प्रति उदार भी रहें। विभेद को दबाने से भीतरी तनाव में और वृद्धि हो जाती है। अशोक को शायद लोगों के बीच उपस्थिति मतभेद से भय था, अतः उसने जन सभा एवं लोगो के जमाव को प्रतिबन्धित कर दिया था (प्रथम मुख्य शिला अभिलेख)। इसके पीछे राजनैतिक कारण हो सकता है क्योंकि जनसभा किसी भी विरोध की आरम्भिक बिन्दु हो सकती है। इस तरह के प्रतिबन्ध कठोर केन्द्रीयकृत शासन व्यवस्था (जैसा कि मौर्य शासन था) के अनुरूप था।

राजा द्वारा दासों एवं सेवकों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करने के आग्रह को हम सिर्फ धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं देख सकते हैं। इसका सामाजिक महत्व भी था। दासों एवं सेवकों के शोषण के कारण उस वर्ग में असंतोष एवं अप्रसन्नता व्याप्त थी। राजा जो अपने केन्द्रीय सत्ता को सुदृढ़ करना चाहता था, वह ऐसे संघर्ष या टकराहट की तीव्रता को कम करना चाहता था।

अहिंसा धम्म के सिद्धान्त का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त था। अशोक ने सभी को मनुष्य एवं पशु दोनों के प्रति अहिंसा की नीति को अपनाने के लिए कहा। इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं रख कर इसे राजनीति एवं अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र तक बढ़ाया गया। अहिंसा युद्ध को त्यागने से लेकर पशुवध निषेध तक अंतर्निहित था। परन्तु उसने राज्य के नीति के रूप में हिंसा को पूर्णतः नहीं त्यागा था। राज्य के सीमा के अन्दर रहने

वाले आदिम जनजातियों को उपद्रव करने पर अशोक स्पष्ट चेतावनी देता है कि वो उनपर कारवाई करेगा (मुख्य शिला अभिलेख)। राजनीति के क्षेत्र में, उसने तलवार के द्वारा विजय की नीति को त्याग कर धम्म विजय यानि धम्म के द्वारा विजय की नीति को अपनाया। कलिंग युद्ध के बाद मौर्य साम्राज्य को किसी युद्ध की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सामरिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से साम्राज्य का विस्तार पूर्ण हो गया था। अशोक के साम्राज्य पर आक्रमण नहीं करने को प्रेरित हो सकते थे।

धम्म एक सामाजिक आचरण एवं व्यवहार पर भी बल देता है। अशोक ने उच्च कोटी के सामाजिक नैतिकता एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध धम्म के द्वारा करवाया। उसने पिता–पुत्र, सेवक–मालिक, दास–स्वामी में परस्पर आदरपूर्ण, सम्मानजनक और मधुर सम्बन्ध कायम करने पर बल दिया। शायद मौर्य काल में छोटे एवं नाभिकीय परिवार प्रणाली विकसित हो रहा था, अतः अशोक ने परिवार के महत्व एवं परिवार के अन्दर मधुर सम्बन्ध विकसित करने पर बल दिया। परिवार धम्म के सिद्धान्तों के प्रसार का उपयुक्त केन्द्र हो सकता था जहाँ से वह समुदाय तक विसरित हो सकता था।

धम्म की नीति में जन–कल्याण के बहुत सारे कार्य शामिल थे जैसे वृक्षारोपण, कुँआ, सराय, सड़कों का निर्माण वगैरह। अच्छे संचार व्यवस्था ने व्यापार और वणिज्य को बढ़ावा दिया और साथ ही धम्म के प्रचार–प्रसार के मार्ग को प्रशस्त किया। अशोक ने एक नये पदाधिकारी – धम्म महामात्र को नियुक्त किया। ये धम्म के प्रचार–प्रसार के अलावा प्रजा के सामान्य कल्याण एवं उनके बीच असंतोष को रोकने का कार्य करते थे। आम्त–महामात्र सीमांत क्षेत्र में धम्म का प्रचार करता था और केन्द्रीय सत्ता के विरूद्ध विद्रोह पर नज़र रखता था। स्त्री–अध्यक्ष महामात्र नारी नैतिकता पर नज़र रखता था। धम्म महामात्र इस तरह विभिन्न धार्मिक मतों एवं अधार्मिक समुदायों के बीच काम करता था। अशोक धम्म महामात्रों के द्वारा निम्न वर्ग के लोगों का सामाजिक कल्याण करना चाहता था। इसके पीछे दातव्य भावना हो सकती है, परन्तु यह एक व्यवहारिक जरूरत भी हो सकती है क्योंकि एक केन्द्रीयकृत प्रशासन तभी सक्षम हो पाता है, जब सामाजिक कल्याण समाज के सभी वर्ग तक पहुँचे। अशोक ने पष्ठ मुख्य शिला अभिलेख में प्रशासन की सक्षम व्यवस्था पर ज़ोर दिया है। अशोक प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहता था। प्रजा के प्रति उसके उत्तरदायित्व का साक्ष्य उसके अभिलेखों में काफी मिलते हैं। इसमें कोई धार्मिक अवधारणा से जुड़े होने की बात नहीं है। अशोक की प्रशासनिक नीति धम्म के प्रचार में करीबी से जुड़ी थी।

अशोक आम प्रचलित कर्मकाण्डों की निन्दा करता है और नौवें मुख्य शिला अभिलेख में लोगो से नैतिकता के जुड़े व्यवहार को अपनाने के लिये कहता है। वह इन कर्मकाण्डों की निन्दा सिर्फ धार्मिक कारणों से ही नहीं परन्तु आर्थिक कारणों से भी करता है। तृतीय मुख्य शिला अभिलेख में वह खर्च में मितव्ययता एवं धन–सम्पत्ति इकट्ठा करने पर भी नियन्त्रण करने को कहता है।

पितृवत व्यवहार राजा व प्रजा के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। द्वितीय कलिंग अभिलेख में अशोक कहता है कि सभी लोग मेरी संतान है और जैसे वो अपने बच्चों के लिये इस दुनिया और दूसरी दुनिया में हर प्रकार की सम्वृद्धि एवं खुशहाली चाहता है, वैसे ही सभी प्रजा के लिये भी चाहता है। यह विचार सिर्फ कथनी ही नहीं था परन्तु इसे अक्षरतः व्यवहार में भी परिवर्तित किया गया था। न्यायिक सुधार भी किये गये थे। न्यायिक प्रक्रिया एवं दण्ड–विधान में एकरूपता लाई गई थी।

धम्म के प्रचार हेतु अशोक ने कई तरीके अपनाये थे। वह खुद धम्म के प्रचार हेतु यात्रा पर जाता था। उसने विहार–यात्रा (आमोद–प्रमोद हेतु यात्रा) को त्याग कर धम्म–यात्रा (धम्म के प्रचार हेतु यात्रा) को अपनाया और धम्म–विजय की नीति को राज्य नीति के रूप में स्वीकार किया। दूसरे प्रदेश के लोगों को युद्ध के द्वारा नहीं, बल्कि धम्म के द्वारा जीतना था। धम्म यात्रा का उद्देश्य सिर्फ धार्मिक नहीं था। अशोक अपने प्रजा से सीधा संपर्क स्थापित कर रहा था, जिसमें विभिन्न सम्प्रदाय, कृषक, ग्रामीण, बुढ़े वगैरह जैसे लोग थे। अशोक जनता के विचारों से अपने को अवगत करवाना चाहता था। धम्म यात्रा के द्वारा स्थानीय पदाधिकारियों के औपचारिक निरीक्षण का भी कार्य हो रहा था। अशोक कृषकों एवं ग्रामीण लोगो को पूरा महत्व दे रहा था क्योंकि अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान हो रही थी। अशोक ने अन्य पदाधिकारियों जैसे रज्जुक, प्रदेशिक वगैरह को भी तीन या पाँच वर्षो में यात्रा पर जाने को कहता है। राजकीय दूत पड़ोसी राज्यों में धम्म के प्रचार हेतु भेजे गये थे। स्थानीय भाषा में अभिलेख शिलाओं एवं स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये गये ताकि लोगों को धम्म के सिद्धान्तों से अवगत करवाया जा सके। अशोक के अभिलेख भारत के लगभग सभी क्षेत्रों में मिलते है।

निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि अशोक की धम्म नीति का राजनैतिक के साथ–साथ मानवीय एवं नैतिक आधार था। धम्म के उपदेश सभी भारतीय धर्मों का सार था और धम्म की एक विश्वव्यापी अपील थी। धम्म एक अच्छे जीवन शैली की ओर लोगों को अग्रसित करता था और मौर्य वंश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों से मेल खाता था। धम्म उस समय की आवश्यकता थी, जिसे सम्राट अशोक ने बेखूबी से लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया। धम्म पूर्णतः मानवतावाद था। ❖❖❖

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जी0 एम0 बोंगार्ड–लैविन, मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985
2. के0 ए0 नीलकण्ठ शास्त्री, द ऐज ऑफ द नन्दास एण्ड मौर्यास, दिल्ली, 1967
3. आर0 के0 मुखर्जी, अशोक, दिल्ली, 1972
4. रोमिला थापर, अशोक एण्ड डिक्लाइन ऑफ मौर्यास, दिल्ली, 1988 (पुनःमुद्रित)

वी0 ए0 स्मिथ, अशोका, नई दिल्ली, 1970 (पुनःमुद्रित)

श्रेणी (guild) एक व्यवसायी संगठन होता था, जिसके अपने नियम कानून होते थे। प्रत्येक व्यवसाय जैसे व्यापार, स्वर्णकार, लोहार इत्यादि के अलग–अलग श्रेणी होते थे।

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य और श्रम

विकास कुमार सिंह
शोध छात्र,हिंदी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

'शोध'

श्रम के साथ कला का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित रूप से है। श्रम की लय के द्वारा ही वस्तुतः मनुष्य ने संगीत और कला की लय को प्राप्त किया और फिर उसे शब्द दिया। इस प्रकार कविता और गीत की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार "कविता मानव- मन की प्रारंभिक सौन्दर्यात्मक गतिविधियों मे से एक हैं।"१ श्रम से ही मानव के जीवन मे गीत और कविताओं का उदय हुआ। श्रम से गीतों के उदय के बारे मे राम वृक्ष जी कहते है- "उसका प्रथम संगीत निकला,जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को उखल और चक्की में कूट पीस रही थीं। पशुओं को मारकर खाकर वह तृप्त नहीं हुआ उसकी खाल का बनाया ढोल और उसकी सिंग का बनाया तुरही। मछली मारने के लिये जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर उड़ा जा रहा था, तब उसने छप छप मे ताल पाने तराने छेड़े। बास से उसने लाठी ही नही बनायी, बंशी भी बजायी।--------वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। "उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।"[२] अग्रवाल जी कविता के जन्म के पीछे श्रम को कार्यरत मानते है । श्रम से ही लय की उत्पत्ति होती है जो कविता और गीतों का आधार हैं श्रम-रत मनुष्यों के चित्रण में केदारनाथ उन श्रमिकों को अपनी मुक्ति की लड़ाई मे चुपचाप तल्लीन पाते हैं। हालाँकि पूँजीवादी व्यवस्था का जटिल जाल उन्हे आसानी से मुक्त कराने को तैयार नहीं होता। श्रमिकों की सारी मेहनत और लगन को पूँजीवादी व्यवस्था नकार देती है। यह व्यवस्था उसके श्रम और श्रमफल दोनों का अपहरण कर लेती है।

"काखता है, हाफता है, मिट्टी को ढोता है।

गन्दी आबादी के नाले को पाटता है" ३

श्रमिक के इस रूप की चर्चा करते हुए केदारनाथ को श्रमिक के जीवन से घृणा नहीं होती है, बल्कि उस व्यवस्था से होती है जिससे माध्यम से उसकी कड़ी मेहनत को लूट लिया जाता है। केदारनाथ कर्म को जीवन का धर्म, जीवन का मर्म ही समझते हैं । श्रमिक का कर्म ग्रामीण-प्रकृति की पृष्ठभूमि में सम्पन्न होता हैं। प्रकृति का अंकन केदारनाथ इस कर्म के महत्व को प्रतिपादित करने के लिये भी करते हैं। कृषी-कर्म के सन्दर्भ में किसानों के श्रम का वर्णन करने में केदारनाथ सभी कवियों से आगे ही दिखयी देते हैं। कवि के सामाजिकबोध की छाप उनके प्रकृति- चित्रण में स्पष्ट रूप से अंकित हो गयी है। प्रकृति और मनुष्य के जीवन में स्पष्ट रूप से अकिंत हो गयी है। प्रकृति और मनुष्य के जीवन्त सम्बन्धों को वे हरदम स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध को वे अपनी गहन आन्तरिकता में महसूस करते हैं -

पेड़ नही,/पृथ्वी के वंशज हैं,/ फूल लिये,

फल लिये-/मानव के अग्रज हैं। ४

इस प्रकार मनुष्य और पेड़ प्रकृति दोनो ही इस पृथ्वी के.....

वंशज है, जिसमे प्रकृति मनुष्य से पहले हैं। अग्रवाल जी मनुष्य को श्रम और कर्म के द्वारा परिभाषित करते हैं। मनुष्य श्रम से ही सार्थकता प्राप्त करता है। श्रम ही समस्त सभ्यता के विकास का कारण है। केदारनाथ उचित ही श्रम को अत्यन्त गरिमापूर्ण बताते हैं। "छोटे हाथ/परिश्रम करते,/ईटो पर ईटे धरते हैं।

मधु-मक्खी से तन्मय होकर,/मधु कोषों पर धर रचते हैं"५

ये श्रमिक दिन-रात मधुमक्खी के समान परिश्रम करते हैं। केदारनाथ श्रम के द्वारा मनुष्य और मधुमक्खी दोनो को समान रूप से प्रकृति से जोड़ कर देखते हैं। धूप-पानी की भौतिकता में पलने वाले श्रमिक का प्रकृति से जन्मजात सम्बंध होता है।

"धूप पिये लेता है, सीना खोले, नौजवान बेटा हैं युग के

श्रमश्रीवी का।"६

उनके संग्रह लोक और आलोक मे श्रम उदात्त रूप से प्रकट हुआ है। वे कहते हैं-"मार हथौड़ा/कर कर चोट/लाल हुए काले लोहे को/जैसा चाहे वैसा मोड़।"७ अनेक कवियों के रचनाओं मे लुहार क्रांतिकारी श्रमिक प्रतीक बन कर सामने आता है। यहाँ उसे श्रम करते हुए दिखाया गया है। कविता की हर पंक्ति मानो हथौड़े की चोट के साथ आगे बढती हैं। श्रम पर इसी रूप मे एक बहुत सुन्दर कविता हैं 'छोटे हाथ'। सुन्दर मुख, सुन्दर हाथो की भी, उपमा कलम से दी गयी है, लेकिन खेत जोतने वाले किसान के हाथ ? केदार के लिये वे कलम जैसे है, लाल कलम जैसे सुबह उठते ही काम पर लग जाते हैं। हाथ का कलम मे लगना कमल का खिलना हैं।'छोटे हाथ/सबेरा होते/ लाल कलम से खिल उठते हैं/ करनी करने के उत्सुक हो,/ धूप हवा मे खिल उठते हैं।'

यही हाथ किसानी करते हैं और आने वाले वैभव के दिनों को उगंली से टोया करते हैं। मानों भविष्य अभिन्न रूप में इनके साथ जुड़ा हो।

भविष्य की टोह लेना कवि की करनी भी है। कवि का श्रम और किसान का श्रम एक ही उद्देश्य से प्रेरित है। 'छोटे हाथ,/गुनी ग्यानी हैं,/ मौलिक ग्रथों को रचते हैं...,/ मानव कि सुन्दतम कृतियाँ मानव को अर्पित करते हैं ।'८

श्रम के प्रति अपनी इस निष्ठा के कारण केदार अवकाश भोगी वर्ग को प्रतीक बना कर कहते है,

'ये कामचोर/आरामतलब/मोटे तोंदियल/हट्टे-कट्टे सब डाँगर- उधाँ करते हैं/हम चौबिस घंटे हाँफते हैं।'९

युगों से भारतीय जनता को बताया गया है कि सुख-और दुःख उसके पूर्व जन्म के कर्मो के फल हैं। परिश्रम करने के बाद भी, पूरा पेट खाने को नहीं मिलता है, इसका कारण पूर्व जन्म मे किये गये पाप कर्म हैं। अग्रवाल जी इसके विरोध में नया जीवन दर्शन लेकर आते हैं। श्रम कभी वयर्थ नहीं जाता, और श्रम करने वाले लोग इस व्यवस्था को बदलेंगें। 'खो सकता है/ मेरा तेरा / रत्ती रत्ती जोड़ा सोना/ हो सकता हैं / पूर्ण असंभव / का भी पूरा सभंव होना /किन्तु' नहीं श्रम / तेरा मेरा /

इन हर्थों हो सकता है / इनके द्वारा/ कर्म असंभव / पूरा संभव हो सकता है।"१०

श्रमिक के कर्म के साथ ही साथ कवि कर्म भी महत्वपूर्ण है। अग्रवाल की रचनाओ मे कवि की बड़ी उदात्त भूमिका चित्रित की गयी है।

"हम लेखक हैं,/कथाकार हैं/हम जीवन के भाष्यकार हैं/हम कवि जनवादी/चंद,सूर/तुलसी कबीर के/संतो के हरिचंद वीर के

/हम वंशज बड़भागी ।"

अग्रवाल जी जिस तरह जनता से सम्बद्ध हैं, उसी तरह हिंदी की काव्य परम्परा से सम्बद्ध हैं। कवि श्रम शासन के स्रष्टा हैं, कर्मठयुगवादी हैं। इसलिये कवि रूप मे केदार अजेय हैं। वे उचित गर्व के साथ कहते हैं-

काल की मार में/ जहाँ दूसरे झरे हैं,/ हम वहाँ अब भी/हरे हरे हैं। जन जीवन मे धुल मिल कर कवि अमर हो जाता हैं।

केदारनाथ अग्रवाल हमें श्रम से सम्बंधित जीवन को सहज रूप मे इसलिए अपनी कविताओं मे दिखा पाते हैं क्योंकि वे इस जीवन को प्रत्यक्ष और खुली आँखों देखते हैं उनके देखने मे जीवन जैसा ही खुलापन है । गुलमेंहदी के 'केदारनाथ अग्रवाल : एक परिचय में शमशेर बहादुर ठीक ही लिखते हैं- "आज का नौजवान, गरीब, भूखा, किसान और संघर्षशील मजदूर केदार के छन्द-प्रवाह मे अपना हठ, अपना दर्द अपनी जाँ फिसानी, अपनी ट्रेजडी और अपने दुःखों को जीतनेवाली अदम्य आशा को लेकर हमारे सामने बोलने लगते हैं ।"

वास्तव में केदारनाथ में मेहनतकश जनता की भावना को ग्रहण करने एवं उसे अभिव्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता है। यह श्रमिक कहीं हल चला रहा हैं । यह श्रमिक का पुरूषार्थ है जो अपनी सामूहिक शक्ति के द्वारा मानव समाज मे नयी सभ्यता और संस्कृति की रचना कर रहा है। मानव के शोषणमुक्त भविष्य और नये इतिहास की तैयारी कर रहा है। श्रमिकों मे लुहार वर्ग केदार को अत्यन्त प्रिय रहा है। वे लुहार के श्रममय जीवन को व्यक्त करते हुए निम्न पंक्तियों में वर्तमान की पूँजीवाद जीवन-में उसके महत्व को प्रतिपादित करते हैं-

'जो जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है
तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है
जिसने सोने को खोदा, लोहा मोड़ा है,'
"जो रवि के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा, / नहीं मरेगा!!"१३

वह श्रमिक वर्ग मुसीबतों को झेलकर बड़ा हुआ है । वह रवि के

रूप मे जुते हुए घोड़े के समान महत्वपूण है, क्योंकि जिस प्रकार घोड़े के बिना सूर्य का रथ नही चल सकता है, उसी प्रकार श्रमिक वर्ग पर भी सम्पूर्ण पूँजीवादी सभ्यता टिकी हुई है। श्रम कि चर्चा जहाँ भी अग्रवाल जी करते हैं वहाँ खादान मजदूरों की चर्चा करना नही भूलते हैं । इसी कविता मे श्रम के जिन विभिन्न रूपो की चर्चा की गयी हैं उसमें सोने को खोदने वाले, लोहे को मोड़ने वाले ऐसे श्रमिक रूपों का वर्णन भी हुआ हैं। ग्रामीण लुहार इन पंक्तियों मे भी अपने यथार्थ रूप में उपस्थित है -

"मार हथौड़ा,/ कर- चोट
लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़ ।"१४

यहां पर निराला जी की 'वह तोड़ती पत्थर' की ये पंक्तियाँ ध्यान मे आती हैं-

गुरू हथौड़ा हाथ/करती बार-बार प्रहार.

और निराला जी की इन पंक्तियों के समान ही केदारनाथ की उद्‌धृत होने की तरह पंक्तियाँ भी गहन अर्थच्छायाओं वाली हैं। जीवन में आने वाली लोहे की तरह कठिन परिस्थितियों को अपने कठोर श्रम से अपने अनुकुल मोड़ सकता हैं। अग्रवाल जी का श्रमिक भी शोषण तंत्र पर प्रहार कर रहा हैं। श्रम की चोट एक दिन शोषण तंत्र को उखाड़ फेकेगी ।

अग्रवाल जी की श्रम-सौन्दर्य दृष्टि गाँव तक ही सीमित नहीं है-

अपितु शहरों के फैक्टरी मजदूर के जीवन को भी अपनी दर्शन परिधि में रखा है। इस वर्ग के प्रति अपनी सच्ची सहानुभूति दिखाई है। वे कहते हैं कि किसानों को भी अपना श्रम फल नहीं मिल पाता है । उसका फल जमींदार तथा अन्य शोषण वर्ग को मिलता है और वह हमेशा कर्ज मे ही डूबा रह जाता है । दिन रात कठोर परिश्रम करने के बाद भी उसकी दरिद्रता मे कोई कमी नहीं आ पाती है। किसान का बेटा अपने बाप के मरने के बाद सिर्फ उसकी दरिद्रता को ही पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाता है। उसकी अद्‌भुत् विरासत-सम्पत्ति में क्या - क्या चीजें होती हैं, उसका हृदयद्रावक विवरण हम निम्न पंक्तियों में देख सकते हैं ---

"जब बाप मरा तब यह पाया / भूखे किसान के बेटे ने :
घर का मलवा, टूटी खटिया,/ कुछ हाथ भूमि -वह भी परती"
"बनिया के रूपयों का कर्जा/जो नहीं चुकाने पर चुकता ।
दीमक, गोजर, मच्छर, माटा-/ऐसे हजार सब सहवासी ।
बस यही नही जो भूख मिली / सौगुनी बाप से अधिक मिली ।"१५

श्रम चाहे शारीरिक हो या मानसिक-श्रम के बिना मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता है ।मनुष्य को श्रम के बिना जिन्दा रहने का साधन उपलब्ध नहीं हो पायेगा । श्रम के बिना जीना बेकार है ।

श्रम और उपयोगिता का सम्बंध बहुत गहरा होता है। बल्कि एक खास उपयोगिता को लेकर ही श्रम किया जाता है श्रम कुछ न कुछ उत्पादन जरूर करता है, और उत्पादन के रूप मे वस्तु को रूप देता है। अपने उत्पादन से उसे भौतिक सुख तो मिलता ही है, श्रम के द्वारा उत्पादन करने की सन्तुष्टि भी उसे मिलती है ऐसा नहीं है कि केदारनाथ अग्रवाल श्रम के रूप को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जीवन के संघर्ष में सर्वहारा की जो वर्तमान अवस्था है उसको वे आखों से ओझल नही करते । वे जानते हैं कि श्रमिक वर्ग कमजोर है और शोषक मक्कार हैं ।हाँलाकि जीवन के समर में जो दुश्मन आमने सामने खड़े हैं उसमे काफी असमानता है फिर भी वह जीवन-युद्ध बहुत जरूरी और लज़िमी है ।"मानवीय श्रम संहार,सृजन पोषण करता है ।मनुष्य श्रम के द्वारा मानवीय बनता है और मानवीय श्रम को सृजानात्मकता से भर देता है । श्रम का रूप सामाजिक है और इस रूप से केदारनाथ अग्रवाल अच्छी तरह परिचित हैं। इसीलिए श्रम के महत्व को उन्होने अपने काव्य में मुख्य रूप से रेखांकित किया है।"

सन्दर्भ ग्रंथ सूची:-

१. 'पोयट्री इज कैरेक्टरीस्टीकली सांग' - क्रिस्टोफर काडवेल - अल्यूजन एंड रियलिटी, पु०१
२. रामवृक्ष बेनीपुरी - गेहूँ बनाम गुलाब
३. केदारनाथ अग्रवाल - गुलमेंहदी - 'युग कि गंगा' पृ० २८
४. केदारनाथ अग्रवाल - फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ० ३५
५. केदारनाथ अग्रवाल - गूलमेंहदी -'लोक और आलोक' पृ० १३४
६. केदारनाथ अग्रवाल - फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ० १७६
७. केदारनाथ अग्रवाल - फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ० ८३
८. केदारनाथ अग्रवाल - गुलमेंहदी, पृ० १३५
९. केदारनाथ अग्रवाल - गुलमेंहदी, पृ० ५०
१०. केदारनाथ अग्रवाल - गुलमेंहदी, पृ० १५६
११. केदारनाथ अग्रवाल - गुलमेंहदी, पृ० ११८
१२. केदारनाथ अग्रवाल - पंख और पतवार, पृ० ४७
१३. केदारनाथ अग्रवाल - गूलमेंहदी -'लोक और आलोक' पृ० १३१
१४. केदारनाथ अग्रवाल - फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ० ८३
१५. केदारनाथ अग्रवाल - फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ० ७४

❖❖❖

हिन्दी नवजागरण की अखिल भारतीयता और धर्म

अमित कुमार सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
का.हि.वि.वि.

शोध

नवजागरण और स्वाधीनता आन्दोलन, 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध की ऐसी दो घटनाएँ हैं, जो आगामी 20 वीं सदी के समूचे भारतीय जीवन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ती हैं। कोई भी समाज जब परिवर्तन की प्रक्रिया में गतिरोध महसूस करता है, अथवा उसके समक्ष कोई जटिलता आती है, तो वह उसकी छानबीन करता है। यह छानबीन मौजूदा परिदृश्य को उसके स्थानिक और वैश्विक परिदृश्य से अलग करके नहीं की जाती। नवजागरण भी एक ऐसी ही गतिशील रचनात्मक प्रक्रिया है, जिसका अपने निकटतम अतीत एवं तात्कालिक वैश्विक परिदृश्य से गहरा संबंध है।

नवजागरण मुख्यतः बुद्धिवाद, समाज–सुधार और एक आधुनिक संस्कृति की ओर प्रस्थान था। निश्चित रूप से जिन समाजों में पहले से कई उच्च परम्पराएँ मौजूद थीं, वहाँ नवजागरण अतीत से पूर्णरूपेण प्रस्थान नहीं था। भारत भी एक ऐसा ही देश है, जहाँ पर औपनिवेशिक वातावरण में बुद्धिवादी जागरूकता के साथ राष्ट्रीय आत्म–पहचान का संघर्ष भी एक प्रमुख सवाल था। इसीलिए भारत में नवजागरण बुद्धिवादी जागरूकता के साथ–साथ अतीत से संवाद भी था। नवजागरण का स्वरूप समूचे भारत में एक जैसा नहीं था। बंगाल में जहाँ बुद्धिवाद और अंग्रेजी शिक्षा का जोर था, वहीं महाराष्ट्र में दलित आंदोलन ही नवजागरण का मुख्य चिन्ह था। अतः भारत के कुछ क्षेत्रों में नवजागरण की चेतना अपनी समूची उर्जा से साथ फूटी, जबकि कुछ क्षेत्र नवजागरण की इस उर्जस्वित चेतना से अपेक्षाकृत वंचित रहे। हिन्दी क्षेत्र के जीवन में पिछड़ेपन, सामंती संस्कारों, धर्म के आडम्बर, स्त्रियों तथा दलितों की स्थिति जैसी समस्याओं का प्राधान्य अभी भी बना हुआ है तथा एक बड़ी चुनौती के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है।

गैर हिन्दी भाषी क्षेत्रों में जहाँ नवजागरण के मुख्य सूत्रधार के रूप में समाज सुधारकों का योगदान रहा, वहीं हिन्दी नवजागरण में इस प्रदेश के जागरूक लेखकों की ही भूमिका प्रमुख रही। प्रारंभिक दौर में भारतीय मानस का एक विशेष वर्ग अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर जहाँ उसी रंग में डूब गया, वहीं ऐसे भी मध्यवर्गीय बौद्धिक थे, जिन्होने अंग्रेजी को अपनाकर भी दुनिया के इतिहास और दूसरे देशों की स्वातंत्र्य चेतना से परिचय किया, लोकतंत्र की व्यवस्था को समझा और आरंभिक पूंजीवादी सभ्यता के बारे में जानकारी प्राप्त की। हिन्दी प्रदेश में नवजागरण के सूत्रधार इन लेखकों का संकल्प 'एक ऐसे भारतीय मानस को तैयार करना था जो अंधविश्वास एवं अंधश्रद्धा से मुक्त तथा तर्कपूर्ण विवेक रखने वाला हो।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के उद्‌भव विकास और इस प्रक्रिया की बनती–बिगड़ती परिस्थितियों पर नवजागरण का गहरा प्रभाव है। आधुनिक समय में साहित्य की दिशा, उद्‌देश्यों एवं साहित्य में होने वाली रचनाओं की सार्थकता को हिन्दी नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करना आवश्यक प्रश्नचिह्न के रूप में हमारे सामने है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्रत्येक युग अपने पिछले युग से प्रेरणा ग्रहण करता है, किंतु वह पिछले युग से विभिन्न मायनों में अलग और कहीं कहीं उसका विरोध भी होता है। इस संदर्भ में भारतीय नवजागरण और यूरोपीय नवजागरण की गुणात्मक भिन्नता भी स्पष्ट होती है। समस्त भारतीय प्रदेशों में नवजागरण की जो पृष्ठभूमि तैयार हुई, उसके मूल में धर्म बड़े ही गहरे रूप में जुड़ा हुआ था। भारतीय नवजागरण का धर्म से बड़ा ही जटिल संबंध रहा है, विशेष रूप से इसके सामाजिक संदर्भों में। संपूर्ण नवजागरण कालीन भारतीय समाज में जितने भी सुधारक हुए, उनका उद्‌देश्य धार्मिक सामाजिक बुराइयों को मिटाना तथा लोगों को नये चिन्तन की ओर अग्रसर करना था। लेकिन ये सभी सुधार धर्म की निश्चित परिधि के अंदर ही किए गए। इसका प्रमुख कारण परम्परा से भारतीय समाज के भीतर धर्म की जड़ों का मजबूत होना था। प्रसिद्ध समीक्षक शंभुनाथ ने इस संबंध में अपने विचार देते हुए लिखा है– " नवजागरण का धर्म के संदर्भ में मुख्य एजेंडा उसकी रूढ़ियो अंधविश्वासों और कट्टरता का विरोध था। उसका लक्ष्य आदमी को धार्मिक सत्ता के कठोर नियंत्रण और मोक्ष की धारणाओं से छुटकारा दिलाना था, ताकि वह भौतिक दुनिया का महत्व जान सके अपनी जिंदगी, स्वतंत्रता, भाईचारा तथा अन्य आधुनिकताओं के साथ जी सके।"[1]

निश्चित रूप से तत्कालीन भारतीय समाज की रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं का विरोध धर्म के दायरे में रहकर ही किया जा सकता था और यही कारण था कि धार्मिक कुप्रथाओं का विरोध करते हुए जिन प्रसिद्ध सुधारकों ने तीव्र रूप में आवाज उठाई, वे बहुत आगे बढ़े तो धर्म परिवर्तन कर लिया। जैसे– रमाबाई ने हिन्दू धर्म छोड़कर ईसाईयत को अपनाया तथा अंबेडकर बौद्ध धर्म के अनुयायी बने। यह एक धर्म से दूसरे धर्म का परिवर्तन था न कि धर्म का पूरी तरह अस्वीकार। ऐसे विचारों के मूल में भारतीय सामाजिक संरचना और उसके उपर धर्म का प्रभाव प्रमुख रहा है। प्रख्यात इतिहासकार क.न. पन्निकर ने लिखा है– " धार्मिक आस्थाओं और सामाजिक व्यवहारों के बीच अंतः संबंध के कारण सामाजिक सुधार के लिए पहले धार्मिक सुधार जरूरी शर्त है। उस समय आम हिन्दू के जीवन के हर क्षेत्र में धर्म का दखल

होता था। उसका खाना जीना, चलना–फिरना उठना–बैठना सभी कुछ धार्मिक नियमों एवं व्यवस्थाओं के तहत नियंत्रित और निर्धारित था। इन नियमों के उल्लंघन का मतलब था पाप और अधार्मिकता। ठीक यही बात मुसलमानों पर भी लागू थी। उनके जीवन में भी हर मामले में धर्म का पूरा दखल था। धर्म उस समय के समाज पर जिस तरह हावी था, उसे देखते हुए यह बात साफ हो जाती है कि धर्म पर पकड़ बनाए बगैर किसी तरह का समाजिक सुधार संभव नहीं था।"[2] तात्पर्य यह कि धर्म भारतीय समाज के आचार व्यवहार एवं जीवन में इस प्रकार विद्यमान था कि अपने मत को प्रभावी सिद्ध करने एवं समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए विचारकों ने आवश्यकता नुसार धर्म का सहारा भी लिया। एक तरह जहाँ धर्म को ढाल बनाकर कतिपय लोगों ने विद्वेश फैलाकर राष्ट्रीय व जातीय एकता को तोड़ने का प्रयास किया वहीं धर्म की सीमाओं में रह कर भी कई लेखकों विचारकों ने काफी हद तक अंधविश्वासों और रूढ़ियों को दूर कर नए चिंतन को स्थापित करने का प्रयास भी किया।

हिन्दी प्रदेश की स्थिति इस संदर्भ में और जटिल तथा उलझनपूर्ण है। नवजागरण के संपूर्ण प्रभाव पर टिप्पणी करते हुए शंभुनाथ ने लिखा है– "पिछले पचास सालों के नवजागरण विवाद में मुख्यतः यही उभर कर सामने आया है कि बंगला नवजागरण का केंद्रीय सारतत्व बुद्धिवाद है, जबकि हिन्दी नवजागरण का सारतत्व राष्ट्रवाद है। महाराष्ट्र में जहाँ दलित चेतना और सुधारवाद प्रमुख हैं, वहीं तमिल नवजागरण ब्राम्हणवाद विरोधी रहा है। नवजागरण की इन परंपराओं में राष्ट्रीय आत्म–पहचान के संघर्ष को पहचानते हुए स्थानीय 'थ्रस्ठ' की अनदेखी भूल होगी। इस संदर्भ में हिन्दी नवजागरण की प्रकृति और इसका अखिल भरतीय संदर्भ रोचक है।"[3]

धार्मिक क्षेत्रों में विभिन्न अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों से अलगाव का आरम्भ हिन्दी नवजागरण की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। लेकिन साथ ही यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी धर्म की भूमिका निर्णायक रही है। नवजागरण कालीन हिन्दी प्रदेश के लेखकों बुद्धिजीवियों में अंधिकांश ने जहाँ इस भूमिका को समझते हुए कार्य किया है, वहीं कतिपय लेखकों ने धर्म विशेष के प्रति गहरी दृढ़ता भी दिखई है। इसके पीछे परिस्थितिजन्य अंतर्विरोध भी दृष्टिगत होते हैं। साथ ही किसी समय में एक व्यक्ति अथवा लेखक के जीवन का अंतर्द्वद्वभी सामने आता है। नवजागरणकालीन हिन्दी प्रदेश में एक तरफ नये ज्ञान और तर्क आधारित तथ्यों का समर्थन करने वाले विचारक भी थे तथा दूसरी तरफ कतिपय लेखक ऐसे भी थे, जिन्होने नवीन तथ्यो के अन्वेषण के लिए भी वेदों की ओर जाना अधिक श्रेयस्कर समझा। दयानंद सरस्वती के प्रयासों को नवजागरण के मूल्यांकन के संदर्भ में अनदेखा नहीं किया जा सकता, लेकिन केवल हिन्दू धर्म की वकालत करके और अन्य सभी पंथों का विरोध कर उन्होंने नवजागरण की परिधि को सीमित कर दिया। इसके विपरीत हिन्दी प्रदेश के कई लेखकों– भारतेंदु हरिशचन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अपनी सीमा के भीतर रहते हुए भी रूढ़िग्रस्त तत्त्वों की आलोचना की तथा नई चेतना फैलाने का प्रयास किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस्लाम के पाँच प्रमुख व्यक्तियों पर 'पंच पवित्रात्मा' नाम से पुस्तक लिखी तथा कुरान शरीफ का अनुवाद किया। इससे भी आगे जाकर बालकृष्ण भट्ट ने सनातन धर्म की आलोचना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा है–"जिसमें सात ही वर्ष की कन्या ब्याही जाए, एक जाति वाले का छुआ भोजन कर लेने पर दूसरा पतित हो जाए वह सनातन–धर्म क्या विचारवान लोगों के पोषण योग्य है?वह स्वार्थी, धर्मशास्त्र वहिर्मुख यजमान सर्वस्व ब्रहमणों के रुपए कमाने का इंस्ट्रूमेंट हैं। हम ऐसे सनातन धर्म को नमस्कार करते हैं।"[4] इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक मत–मतांतरों के भेद थे भुलाकर भारतेंदु ने हिन्दू मुस्लिम एकता की वकालत अपने लेखों में दृढ़ता से की–"घर में आग लगै,तब जेठानी द्यौरानी को आपस की डाह छोड़ कर वह आग बुझानी चाहिए। जो बात हिन्दुओं को मयस्सर नहीं, वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनमें जाति नहीं, खाने पीने में चौका–चूल्हा नहीं, विलायत जने में रोक–टोक नहीं, फिर भी बड़े सोचने की बात है कि मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा नहीं सुधारी। अभी तक़ बहुतों को यही ज्ञात है कि दिल्ली लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारों के दिन गये। अब आलस हठधर्मी छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ विलायत भेजो, छोटेपन से मेहनत की आदत दिलाओ। चलो हिन्दुओं के साथ तुम भी दौड़ो एक एक दो होगे।"[5]

तात्पर्य यह कि हिन्दी नवजागरण से संबंधित लेखको चिंतकों ने जिस नवीन चेतना के प्रचार प्रसार का प्रयत्न किया उसमें राष्ट्रीय एकता का सवाल ज्यादा महत्वपूर्ण था। हाँलाकि धर्म के प्रभाव को इस संबंध में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भाषा संबंधित सवाल नवजागरण कालीन हिन्दी प्रदेश में प्रमुखता के साथ सामने आया। ब्रज भाषा और खडी बोली में से किसका प्रयोग हो, यह उस दौर का एक महत्वपूर्ण सवाल था। हिन्दी प्रदेश के अधिकांश लेखक संपर्क भाशा के रूप में हिन्दी को राष्ट्र भाषा की पदवी दिलाने के पक्षधर थे, वही अंग्रेजो की नीति के कारण इसका विराध अन्य प्रदेशों में हुआ। हिन्दी के इस विरोध में धर्म की भूमिका पुनः तब सामने आयी, जब हिन्दी प्रदेश के ही कतिपय लेखकों ने ब्रज भाषा के प्रयोग की ज्यादा वकालत की। प्रगतिशील सोच रखने वाले हिन्दी प्रदेश के लेखकों का विरोध खड़ी बोली से इसलिए हुआ क्योंकि वह उर्दू के ज्यादा करीब है। हॉलाकि, महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या प्रसाद खत्री जैसे लेखकों, संपादकों के प्रयास से खड़ी बोली हिन्दी के प्रचार प्रसार में सहायता मिली। खड़ी बोली हिन्दी के प्रसार में ब्रज भाषा से होने वाले विरोध के मूल में धार्मिक हठ कही न कही एक कारण था।

नवजागरण कालीन दौर में होने वाले सामाजिक सुधारों के संबंध में धार्मिक पुनरूथानवाद एक अहम मसला था। 19 वीं सदी के आरंभ में भारत में होने वाले राजनीतिक और आर्थिक विकास, रूढ़िग्रस्त धार्मिक मान्यताओं एवं रस्मों का समर्थन नहीं

करते थे। लेकिन धार्मिक मान्यताओं रूढ़ियों व अंधविशवासों की समाज में गहरे पैठ होने के कारण इस में सामाजिक सुधारों और आधुनिक तर्क आधारित ज्ञान को जल्दी ही स्थान नहीं लेने दिया। ऐसी परिस्थिति में उस समय के समाजिक और आर्थिक मुद्दों ने धार्मिक आवरण अपनाया। प्रसिद्ध चिंतक के. दामोदरन ने इस पर विस्तार से विचार करते हुए टिप्पणी दी है– "एक ओर प्रतिक्रियावादी वर्ग अपने निहित स्वार्थो के संरक्षण और सामाजिक असमानताओं को न्यायसंगत ठहराने के लिए वेदों और शास्त्रों से उद्धरण देते थे, तथा दूसरी ओर प्रगतिशील वर्ग और समूह इन्ही धार्मिक ग्रन्थों से उदाहरण देकर समाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों को न्याय संगत ठहराते थे।"[6] तात्पर्य यह है कि धर्म का उपयोग अपने फायदे के लिये सुधार के पक्षधर और विरोधी दोनों ही करते थे। ऐसे में सुधार और विकास गौण तथा धर्म महत्वपूर्ण हो जाता था। समाजिक सुधार की इस प्रक्रिया में परिवर्तन के समर्थकों में भी अंतर्विरोधी प्रवृतियाँ दृष्टिगोचर होती है। बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा जहाँ पश्चिम के आक्रमणों से राष्ट्रीयता की रक्षा के लिये पुरानी धार्मिक मान्यताओं का समर्थन करता था तथा पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति की अपेक्षा भारत की अध्यात्मिक संस्कृति को श्रेष्ठ मानता था। वही प्रगतिशील प्रवृत्ति के नेता धर्म और सामाजिक व्यवस्था संबंधित मान्यताओं में सुधार के दृढ़ समर्थक थे। तर्क आधारित आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के द्वारा एक सुनहरे भविष्य के निमार्ण के वे पक्षधर थे।

हिन्दी प्रदेश सहित भारत के अन्य सभी भागों में भी दोनों ही वर्गो के लेखक और सुधारक थे। इनमे महादेव गोविन्द रानाडे, और दयानन्द सरस्वती जैसे नेताओं के लिया जा सकता है, जो सुधार के समर्थक तो थे, लेकिन दोनों की दृष्टि में अन्तर था। महागोविन्द रानाडे एक प्रख्यात अर्थशास्त्री थे तथा राजनीतिक सामाजिक व आर्थिक विकास और धर्म के महत्त्व तथा सभी प्रकार के सुधारों में धर्म की भूमिका को लेकर स्पष्ट विचार रखते थे। रानाडे ने लिखा है–"जब आप अपने को राजनीतिक अधिकारों की तुला पर कमजोर पाते है तो आप सामाजिक व्यवस्था भी अच्छी नहीं बना सकते और जब तक आप की सामाजिक व्यवस्था तर्क व न्याय पर आधारित नहीं है तब तक आप अच्छी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते। यदि आप के धार्मिक विचार निम्न स्तर के और तुच्छ हैं तो आप राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। यह पारस्परिक निर्भरता आकस्मिक नहीं है। यह हमारी प्रकृति का नियम है।"[7]

राष्ट्रीय एकता के सूत्रों को एकत्र कर देश को विकास के मार्ग पर अग्रसर करने का जो उद्देश्य लेकर नवजागरण काल के सुधारक और लेखक चले, अपनी कतिपय सीमाओं के बावजूद उन्होने अपने उद्देश्य को पाने में सफलता प्राप्त की। इस संबंध में यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि आधुनिक विचारों के प्रचार प्रसार के साथ–साथ जहाँ तात्कालिक समाज की कई रूढिग्रस्त प्रथाओं जैसे– बाल–विवाह, सती प्रथा, सामन्ती व्यस्था आदि का उन्मूलन हुआ, वही कई सवाल ऐसे भी है जो नवजागरण काल से लेकर वर्तमान समय में किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को प्रभावित करते रहे है। धर्म एक ऐसा ही सवाल है जो आधुनिकता, शिक्षा व्यवस्था के प्रचार प्रसार के बाद भी दिनों–दिन विकृत होता जा रहा है और सम्प्रादायिकता एक चुनौती के रूप मे सबके समक्ष उपस्थित है। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि नवजागरणकालीन लेखकों सुधारकों और नेताओं के प्रयास के फलस्वरूप देश नवीन चेतना और विचारों से प्रभावित हुआ और तमाम रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जनता को छुटकारा दिलाने में इन महान व्यक्तियों की भूमिका को नये संदर्भों में रेखांकित करते हुए उनके योगदान की स्मृति बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है, विशेष रूप से तब, जब कतिपय प्रतिक्रियावादी लोग पुनः निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिये वर्ग विशेश अथवा संप्रदाय विशेष के खाने में उन्हे सीमित करने का कुटिल प्रयास कर रहे हो और नवजागरण के संपूर्ण प्रभाव की जगह हिन्दू नवजागरण, मुस्लिम नवजागरण जैसे छद्म नामों के द्वारा जातीय एकता को प्रभावित कर रहे हो।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1. सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, शंभुनाथ– पृष्ठ, 20–21
2. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, क. न. पर्निकर– पृष्ठ, 47
3. आलोचना (पत्रिका) हिन्दी नवजागरण की अवधारणा· संदेह के बावजूदःशंभुनाथ (अप्रैल–जून, 2001)
4. हिन्दी प्रदीप, दिसं. 1881–सं0 बालकृष्ण भट्ट
5. नवजागरणःअर्थ स्वरूप, श्री भगवती प्रसाद वर्मा–पृष्ठ, 79
6. भारतीय चिंतन परंपरा, के. दामोदरन–पृष्ठ, 380–81
7. भारतीय चिंतन परंपरा– के. दामोदरन–पृष्ठ 383

(संदर्भः An Anthology of Modern India Aloquese, Page-26)

❖❖❖

अज्ञेय के उपन्यास में आधुनिकता

शोध

विनीता सिंह
शोध छात्रा– महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

साहित्य मात्र अनुभूतियों का कोरा नहीं है, उसमें तो जीवन का सम्पूर्ण वेग इतनी सफलता और असफलताओं के साथ जुड़ा हुआ है जो अबोध बच्चे की निर्दोष हँसी से गुजरता हुआ काल के क्रूर निर्मम रण में पग–पग पर गिरते–सम्हलते मनुष्यों की दासता है। प्रकृति से पराजित होकर जब मनुष्य ने उसकी अधीनता स्वीकार की, अपने से श्रेष्ठ मान कर उसे श्रद्धा के सुमन चढ़ाये तो अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी उसी में खोजा और सभ्यता के निर्माण काल से ही दोनों में सहसम्बंध भाव की उत्पत्ति हुई जिसकी प्रागढ़ता ने प्रकृति से विमुख जीवन की कल्पना को ही त्याग दिया। चिन्तन आध्यात्मिक हो या भौतिक दोनों का उद्देश्य मनुष्य की आत्मिक और शारीरिक सुख व शांति की पूर्ति करना है। इसी पूर्व के भाव से सदा ही मनुष्य को राग–विराग से युक्त रखा अर्थात् मुक्ति का रास्ता कहीं भी नहीं। ऐसे में यदि व्यक्ति स्वातंत्र्य और उसकी अस्मिता का प्रश्न उठता है तो यह किसी वाद (अस्तित्वाद) का प्रभाव न होकर अपनी उत्पत्ति और उपस्थिति के संदर्भ में जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा मात्र है, जो पूर्व मूल्यों के आधार पर जीवन दर्शन को समझने का प्रयास करती है और अपने जीवनानुभव की कसौटी पर उसे कस कर पूर्व मानदण्डों का अतिक्रमण भी करना चाहती है।

अज्ञेय का आगमन साहित्य में नये प्राणों को फूंकता है। नये प्राण जिसमें नवीन दृष्टि है, जिसमें परम्परा को आधुनिकता का विरोधी नहीं माना वरन् जड़ परम्पराओं में परिवर्तत की कामना की जिससे नये मूल्यों की स्थापना हो सके जो मनुष्य को निरन्तर विकास की ओर अग्रसर करें। यह परिवर्तन तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने आप को समझे, यह विषय नया नहीं या फिर भी साहित्य में अज्ञेय से पूर्व यह उस ख्याति को प्राप्त न कर सका जिस विद्रोही स्वर के साथ अज्ञेय ने उसे लोकप्रिय और बुलन्दी के शिखर पर पहुँचाया। अपने प्रथम उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' में शेखर के बाल जीवन से लेकर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व निर्माण में अज्ञेय की रचनाधर्मिता के दर्शन होते हैं। जिसमें उन्होंने बचपन से ही शिशु के अन्दर स्वनिर्माण के बीज को खोजा जो अपने घर–परिवार और आस–पड़ोस से ही नहीं, जो नहीं है उसका भी कल्पना से सम्बन्ध जोड़कर अपने जीवन में आने–वाले हर व्यक्ति और परिस्थिति का अर्थ खोजता है। समाज और व्यक्ति संबंध के परिप्रेक्ष्य में अज्ञेय परम्परावादी आग्रह को अस्वीकारते हुए जब जीवन मूल्य की बात करते है तो उसका सीधा सम्बन्ध दोनों के चतुर्मुखी विकास से जुड़ा होता है। समाज को गौण मान कर व्यक्ति को मुख्य मानना उनके जीवन दर्शन का ध्येय है जिसमें वह व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते है, 'नदी के द्वीप' उपन्यास में समाज के प्रतीक रूप में 'नदी' को और व्यक्ति को द्वीप का प्रतीक मान लेना इस बात का प्रमाण है कि वे समाज विरोधी मूल्यों की बात नहीं करते किन्तु अज्ञेय के समक्ष यह प्रश्न सदा से रहा कि संघर्ष और जोखिम से भरे जीवन में व्यक्ति का मूल्य क्या है, अर्थ क्या है, उसकी सिद्धि क्या है?

सम्बन्धों की जो परिभाषा अज्ञेय ने दी है उसे भारतीयता के प्रतिकूल पश्चिम का प्रभाव कह कर आलोचकों ने उसकी अवहेलना की क्योंकि हमारे समाज में आज भी व्यक्ति की पहचान सम्बन्ध के आधार पर ही मानी जानी जाती है, जो हमारी संस्कृति की विशेषता है। अज्ञेय ने यदि शेखर–शशि, भुवन–गौरा–रेखा आदि पात्रों को प्रेम–विश्वास रहित बोझिल सम्बन्धों से मुक्त रखा, अपने कथा साहित्य में बनते–बिगड़ते मानवीय संवेदना की कहानी को जिसमें हर रिश्ता अपनी अहमियत रखता है, हर पात्र अपने में पूर्ण या दूसरे की पूर्णता का कारण बनता है। अजनबी से मित्र, मित्र से प्रेम, दूर रिश्ते की बहन से प्रेम, प्रेम से परिपूर्ण चरम सुख की प्राप्ति, फिर उससे अलगाव, अलगाव से बिखरने की बजाय नवनिर्माण, नये रिश्तों का जन्म, फिर आजीवन उसका निर्वाह, पूर्व रिश्तों का स्मरण, प्रसन्नता के साथ अपने जीवन के कटु सत्यों की आत्मस्वीकारोक्ति, दुराव की भावना से परे, जगत की प्रपंचना से मुक्त अपने 'निज' के लिए 'पर' की पराकाष्ठा से विरक्त, प्रेम को पुरूषार्थ मान वासना से वासना को प्रेम से प्रेम को रूपायित कर रस से सिंचित, व्यक्ति के लिए समाज की चुनौतियों को स्वीकारोक्ति, अपने प्रेम को शाप न समझ सांझ की सुन्दरता से परिभाषित करने वाले, चाहे शब्द अपूर्ण हो, अभिव्यक्ति न हो पर उसकी ज्वलंतता को जीवित रखने के लिए तत्पर, प्रत्येक नये प्रयास की ओर अग्रसर, हम सभी जो नयी मान्यताओं से कहीं न कहीं जुड़े हुए है तो निःसंदेह यह स्वीकार करने में कदापि संकोच नहीं होगा कि हम सभी नदी के द्वीप हैं।

अज्ञेय किसी आदर्शवादी ढ़ंग से समस्या का हल नहीं ढूंढते, उनका तरीका है एक विद्रोही की भावना जो रूग्ण समाज व्यवस्था के विरूद्ध है। समाज के विखण्डन और व्यक्ति की पराजय में उनका विश्वास कभी नहीं रहा, व्यक्ति और समाज की सार्थकता तभी है जब तक व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन करता है और समाज उसकी प्रगति का मार्ग बिना किसी

अवरोध के खुला रखता है, इस तरह दोनों एक दूसरे के पूरक भी है और गतिरोधक भी। समाज अपनी प्रतितीयों को अपने उद्देश्यों के अनुकूल बनाये रखता है, और उसकी पूर्ति के लिए नियम–शासन–शक्ति अपनाता है, परन्तु जब उद्देश्य ही परिवर्तित होने लगे तो स्वतः बदल जायेंगे। निजी दस्तावेज के रूप में लिखा गया शेखर एक जीवनी सम्बन्धों की अंतरंगता पर प्रकाश डालता है जिसमें शेखर–शशि का स्नेह और समर्पण जो समाज की दृष्टि में अनैतिक है, आज के समय में एक समान्य घटना है, समाज के उच्च वर्ग द्वारा आज इसे मान्यता मिल रही, कारण अर्थप्रधान संस्कृति में मनुष्यों के धर्मपरिवर्तन को भी सहज व संवैधानिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी है तो ऐसे में शेखर–शशि के समकक्ष सामाजिक मूल्यों से विद्रोह की स्थिति आती है तो उसका समर्थन करना कोई सामाजिक अपराध नहीं होगा।

अज्ञेय के अस्तित्ववादी दर्शन का पूर्णरूपेण प्रभाव उनके उपन्यास 'अपने–अपने अजनबी' मे दिखायी पड़ता है जिसमें शून्यता से उपन्यास का आरम्भ करते है ''एकाएक सन्नाटा छा गया'' वाक्य वातावरण की संज्ञाहीनता अर्थात् एकाकीपन दीर्घ अवसाद भावना का अनुभव करती है। सन्नाटा पूर्व घटना की विशालता व भव्यता में छिपे भयावहता का संकेत करती है, जिसे अज्ञेय धमाके के मध्य या उससे भी अधिक अर्धगम्भीर बताते हैं। उपन्यास में यह कहना कि– ''किसी प्रकार की भी आत्मचेतना अपने को अपनी अनुभूति से अलग कर देती है, तटस्थ कर देती है, साक्षी बना देती है ; और जो साक्षी है वह भोक्ता कैसे है?जीवन की अनुभूति तभी हो सकती है जब अनुभव कर रहे होने का बोध न हो।" इस तरह व्यक्ति में अस्तित्व की पहचान, उसके अपने होने का बोध एक तटस्था का भाव है जो उसे द्रष्टा बना कर खड़ा करती है, अज्ञेय के लिए व्यक्ति से बड़ा प्रश्न व्यक्तित्व का है जिसे उनके उपन्यासों में निर्विवाद रूप से देखा जा सकता है।

मनोविज्ञान मानव के व्यक्तिगत रहस्यों को उसके मोक्ष और असन्तोष तथा उसके प्रेम मैत्री आदि गुणों को उसके समस्त सामाजिक आचरण को समझने में सहायता करता है। अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' में 'शेखर' को केन्द्र बनाकर उसके निजी जीवन की सीमा में उठने वाली समस्याओं के सन्दर्भ में उसके अन्तर्मन के द्वन्द्वों का विश्लेषण किया। आपने पाश्चात्य विद्वानों की चिन्तनात्मकता को अपने पहलुओं में समेटा और उपन्यास के कथ्यों को नए रंग देने का प्रयास किया। फ्रायड, एडलर, युंग और कुंठाओं का विश्लेषण हो गया, मनुष्य के अहं, कुंठित स्वर भय, अन्तर्द्वन्द्व, मृत्यु मन की स्थिति, रोमांस भावुकता व्यष्टि–समष्टि के संघर्ष, नारी जीवन के अनबोले प्रश्न, क्रन्दन, रूढ़ियों से मुक्ति का आन्दोलन आदि कथानकों को अज्ञेय ने बड़ी रोचकता से अंकित किया है।

शिक्षा तथा वैचारिक उत्थान के कारण समाज में विवाह तथा प्रेम सम्बन्धी मूल्य भी परिवर्तित हो रहे है। जिसमें व्यक्ति की रूचि प्रमुख स्थान रखती है। अज्ञेय ऐसी शिक्षा के हिमायती थे जो व्यक्ति को टाईप न बनाए अर्थात् हर व्यक्ति में जो गुण है जो उसके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग है, विकसित हौकर उसके विराट बहुर्मुखी व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहयोग दे जो प्रारम्भ से ही बच्चे में निजीपन, विशिष्टता और निर्भयता का भाव उत्पन्न करें।

अज्ञेय आधुनिक उपान्यासकार हैं जो सशक्त समाज निर्माण के लिए 'नारी' की भूमिका भी उतनी ही अहम् मानते है जितना पुरूष की। आधुनिक जीवन के नगरीय परिवेश को चित्रित करने में पूर्णतया अज्ञेय को सफलता मिली है। नारी पात्रों के मनोविज्ञान को समझते हुए उसका यथार्थ चित्रण करते हैं। वे अपना मार्ग खुद बनाती है, निर्णय ले सकती है। 'नदी के द्वीप' की नायिका रेखा–गौरा इसका ज्वलंत प्रमाण है जो पुरूषवादी समाज में स्त्री के वैयक्तिक प्रेम सम्बन्धों को उद्घाटित करती है जहां वह अपने निर्णय लेने के लिए दूसरों की बाध्यता स्वीकार नहीं करती उसकी शिक्षा ही उसका मार्ग तय करती है। समाजवादी दृष्टि से अज्ञेय की स्त्रीपात्र अधिक तर्कशील दिखाई पड़ती है, पर संवेदना के धरातल पर वह पूर्णतः स्त्रीमन की निर्मलता को ही अपने में समाहित की हुई अपने अस्मिता का बोझ भी करती है, जो आज भी पारिवारिक–सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने वाली स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व करती है।

अज्ञेय की वैचारिक चेतना व्यष्टि से समष्टि की ओर जाती है, उनके पात्र जहां अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं, वही सामाजिक नैतिक मानदण्ड भी बनाते है। उनके पात्र अहंवादी, कामुक पुरूष नहीं है बल्कि वह खुली मानसिकता वाले पुरूष है। अज्ञेय ने मन के आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति बहुत ही कोमल शब्दों में की है उनकी यह निश्छलता सहृदय पाठक को आकर्षित करती है। मानव जीवन के स्वीकृत रूग्ण मूल्यों को खण्डित कर उनके भीतर स्थित वास्तविक सत्य को अनावृत करना ही अज्ञेय का मुख्य ध्येय रहा है। यह आकस्मिक नहीं था कि अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' नदी के द्वीप से लेकर अपने–अपने अजनबी में जिस अस्तित्वादी चिन्तन को व्यक्ति मनोविज्ञान के आधार पर व पुष्ट किया, के बीज बिन्दु पहले से ही साहित्य में विद्यमान थे। उन्होंने तो व्यक्ति और व्यक्तित्व निर्माण के प्रश्न को नयी चेतना दी। उनका ध्यान पश्चिमी सभ्यता को भारतीय जीवन में प्रवेश दिला कर एक बारगी व्यक्ति का परिवार, समाज और धर्म परम्पराओं से विमुख कर देना मात्र नहीं था, वरन् उन कड़ियों को तोड़ना था जिससे प्रत्येक व्यक्ति में छिपे गुणों का विकास हो सके जिसे नैतिक–अनैतिक, स्वतंत्र–स्वच्छंद, प्रेम–वासना, पुरस्कार–तिरस्कार इन सब बातों से परे एक बार प्रकट होने का अवसर अवश्य मिलें। अज्ञेय के उपन्यासों की संख्या कम है, किन्तु उनके अनुभव और चिन्तन का दायरा विस्तृत और गहन है उनकी दृष्टि मुक्त प्रेम और सम्बन्ध पर विशेष रूप से टिकी रही

अज्ञेय के उपन्यास में आधुनिकता

शोध

विनीता सिंह
शोध छात्रा– महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

साहित्य मात्र अनुभूतियों का कोरा नहीं है, उसमें तो जीवन का सम्पूर्ण वेग इतनी सफलता और असफलताओं के साथ जुड़ा हुआ है जो अबोध बच्चे की निर्दोष हँसी से गुजरता हुआ काल के क्रूर निर्मम रण में पग–पग पर गिरते–सम्हलते मनुष्यों की दासता है। प्रकृति से पराजित होकर जब मनुष्य ने उसकी अधीनता स्वीकार की, अपने से श्रेष्ठ मान कर उसे श्रद्धा के सुमन चढ़ाये तो अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी उसी में खोजा और सभ्यता के निर्माण काल से ही दोनों में सहसम्बंध भाव की उत्पत्ति हुई जिसकी प्रागढ़ता ने प्रकृति से विमुख जीवन की कल्पना को ही त्याग दिया। चिन्तन आध्यात्मिक हो या भौतिक दोनों का उद्देश्य मनुष्य की आत्मिक और शारीरिक सुख व शांति की पूर्ति करना है। इसी पूर्व के भाव से सदा ही मनुष्य को राग–विराग से युक्त रखा अर्थात् मुक्ति का रास्ता कहीं भी नहीं। ऐसे में यदि व्यक्ति स्वातंत्र्य और उसकी अस्मिता का प्रश्न उठता है तो यह किसी वाद (अस्तित्वाद) का प्रभाव न होकर अपनी उत्पत्ति और उपस्थिति के संदर्भ में जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा मात्र है, जो पूर्व मूल्यों के आधार पर जीवन दर्शन को समझने का प्रयास करती है और अपने जीवनानुभव की कसौटी पर उसे कस कर पूर्व मानदण्डों का अतिक्रमण भी करना चाहती है।

अज्ञेय का आगमन साहित्य में नये प्राणों को फूंकता है। नये प्राण जिसमें नवीन दृष्टि है, जिसमें परम्परा को आधुनिकता का विरोधी नहीं माना वरन् जड़ परम्पराओं में परिवर्तत की कामना की जिससे नये मूल्यों की स्थापना हो सके जो मनुष्य को निरन्तर विकास की ओर अग्रसर करें। यह परिवर्तन तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने आप को समझे, यह विषय नया नहीं या फिर भी साहित्य में अज्ञेय से पूर्व यह उस ख्याति को प्राप्त न कर सका जिस विद्रोही स्वर के साथ अज्ञेय ने उसे लोकप्रिय और बुलन्दी के शिखर पर पहुँचाया। अपने प्रथम उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' में शेखर के बाल जीवन से लेकर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व निर्माण में अज्ञेय की रचनाधर्मिता के दर्शन होते हैं। जिसमें उन्होंने बचपन से ही शिशु के अन्दर स्वनिर्माण के बीज को खोजा जो अपने घर–परिवार और आस–पड़ोस से ही नहीं, जो नहीं है उसका भी कल्पना से सम्बन्ध जोड़कर अपने जीवन में आने–वाले हर व्यक्ति और परिस्थिति का अर्थ खोजता है। समाज और व्यक्ति संबंध के परिप्रेक्ष्य में अज्ञेय परम्परावादी आग्रह को अस्वीकारते हुए जब जीवन मूल्य की बात करते है तो उसका सीधा सम्बन्ध दोनों के चतुर्मुखी विकास से जुड़ा होता है। समाज को गौण मान कर व्यक्ति को मुख्य मानना उनके जीवन दर्शन का ध्येय है जिसमें वह व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते है, 'नदी के द्वीप' उपन्यास में समाज के प्रतीक रूप में 'नदी' को और व्यक्ति को द्वीप का प्रतीक मान लेना इस बात का प्रमाण है कि वे समाज विरोधी मूल्यों की बात नहीं करते किन्तु अज्ञेय के समक्ष यह प्रश्न सदा से रहा कि संघर्ष और जोखिम से भरे जीवन में व्यक्ति का मूल्य क्या है, अर्थ क्या है, उसकी सिद्धि क्या है?

सम्बन्धों की जो परिभाषा अज्ञेय ने दी है उसे भारतीयता के प्रतिकूल पश्चिम का प्रभाव कह कर आलोचकों ने उसकी अवहेलना की क्योंकि हमारे समाज में आज भी व्यक्ति की पहचान सम्बन्ध के आधार पर ही मानी जानी जाती है, जो हमारी संस्कृति की विशेषता है। अज्ञेय ने यदि शेखर–शशि, भुवन–गौरा–रेखा आदि पात्रों को प्रेम–विश्वास रहित बोझिल सम्बन्धों से मुक्त रखा, अपने कथा साहित्य में बनते–बिगड़ते मानवीय संवेदना की कहानी को जिसमें हर रिश्ता अपनी अहमियत रखता है, हर पात्र अपने में पूर्ण या दूसरे की पूर्णता का कारण बनता है। अजनबी से मित्र, मित्र से प्रेम, दूर रिश्ते की बहन से प्रेम, प्रेम से परिपूर्ण चरम सुख की प्राप्ति, फिर उससे अलगाव, अलगाव से बिखरने की बजाय नवनिर्माण, नये रिश्तों का जन्म, फिर आजीवन उसका निर्वाह, पूर्व रिश्तों का स्मरण, प्रसन्नता के साथ अपने जीवन के कटु सत्यों की आत्मस्वीकारोक्ति, दुराव की भावना से परे, जगत की प्रपंचना से मुक्त अपने 'निज' के लिए 'पर' की पराकाष्ठा से विरक्त, प्रेम को पुरूषार्थ मान वासना से वासना को प्रेम से प्रेम को रूपायित कर रस से सिंचित, व्यक्ति के लिए समाज की चुनौतियों को स्वीकारोक्ति, अपने प्रेम को शाप न समझ सांझ की सुन्दरता से परिभाषित करने वाले, चाहे शब्द अपूर्ण हो, अभिव्यक्ति न हो पर उसकी ज्वलंतता को जीवित रखने के लिए तत्पर, प्रत्येक नये प्रयास की ओर अग्रसर, हम सभी जो नयी मान्यताओं से कहीं न कहीं जुड़े हुए है तो निःसंदेह यह स्वीकार करने में कदापि संकोच नहीं होगा कि हम सभी नदी के द्वीप हैं।

अज्ञेय किसी आदर्शवादी ढ़ंग से समस्या का हल नहीं ढूंढते, उनका तरीका है एक विद्रोही की भावना जो रूग्ण समाज व्यवस्था के विरूद्ध है। समाज के विखण्डन और व्यक्ति की पराजय में उनका विश्वास कभी नहीं रहा, व्यक्ति और समाज की सार्थकता तभी है जब तक व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन करता है और समाज उसकी प्रगति का मार्ग बिना किसी

नारी विषयक विचार और प्रेमचंद

'शोध'

अनामिका सिंह
(शोध छात्रा) हिन्दी विभाग
उदय प्रताप स्वात्तशासी महाविद्यालय, वाराणसी

ऐतिहासिक विकास–क्रम में हमारे देश का सामाजिक ढ़ाँचा जिस गति से अजनतांत्रिक होता गया, और आर्थिक शोषण गहराता गया, नारी की जीवन भी उसी गति से दुखमय हुआ। नारी और पुरूष की सामाजिक भूमिका में मौजूदा फर्क दुनिया की अमानवीय विषमता का क्रूरतम पहलू है। यदि किसी समाज की प्रामाणिक तस्वीर खोजनी हो, तो नारी के विडंबनापूर्ण जीवन को देखना चाहिए। वह पुरूष का उपनिवेश बन कर रह गयी। उसके सामने देवी का आदर्श रखा गया, लेकिन यथार्थतः उसका जीवन बंधुआ मजदूर सा रहा। वह बचपन में पिता, यौवन में पति तथा वृद्धावस्था में बच्चों के अधीन रहकर पुरूष वर्ग की गुलामी करने लगी। नारी के इस जीवन क्रम की स्थिति पर धर्म और समाज ने अपनी मुहर लगा कर उसे दासी का दर्जा दिया।

हिन्दी साहित्य में बहुत पहले ही प्रेमचंद स्त्री स्वातंत्य का स्वर मुखरित कर चुके थे। मानवीय और सामूहिक मुद्दों पर उनके युगान्तकारी विचार नारी धर्म की स्थापना और सामाजिक मूल्यों के सन्दर्भ में आज के बौद्धिक मानस को अत्यन्त उद्वेलित करते हैं ; वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद के नारी पात्र और उनमें प्रतिफलित मूल्य कितने जीवन्त और प्रासंगिक है।

वर्तमान आधुनिक भारतीय परिप्रेक्ष्य में आज से इतने वर्ष पूर्व स्त्री और उसके आर्थिक निर्भरता की वकालत करना, नारी सजगता का आह्वान करना एक पितृसत्तामक समाज में जहाँ स्त्री आर्थिक रूप में स्वतंत्र न हो तो उसके स्वातंत्य का क्या मतलब होगा?इसी सत्य को प्रेमचंद ने अपने साहित्य में स्थान दिया।

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में नारी एवं अन्य पात्रों के माध्यम से केवल नारी स्वातंत्र्य या उनकी मुक्ति का राग नहीं अलापा है, वरन् उन्होंने नारी सम्बन्धी समस्याओं को उजागर करके उनका प्रभावशाली चित्रण किया।

प्रेमचंद समझ गये थे "समाज में स्त्री और पुरूष दोनों ही हैं और जब तक दोनों की उन्नति न होगी, जीवन सुखी न होगा।" प्रेमचंद स्त्री–पुरूष सम्बन्ध को एक दूसरे से मुक्ति के रूप में नहीं, बल्कि दो बराबरों की अंत निर्भरता की शक्ल में देखते थे। आज स्त्री पुरूष प्रभुत्ववाद से मुक्त होना चाहती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि वह पुरूष से मुक्ति चाहती है अथवा उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है।

किसी भी साहित्यकार के लिए अपने साहित्य में नारी का चित्रण करना मात्र उसकी पीड़ा या द्वन्द्व को चित्रित करना न होकर बल्कि उसके लिए समाज में एक सम्मानजनक स्थिति का निर्माण करना होना चाहिए। जब तक नारी आर्थिक स्वावलम्बी नहीं होगी तब तक समाज में उसकी स्थिति ऐसी ही रहेगी। प्रेमचंद और गांधीजी ने नारी के आर्थिक स्वावलम्बन पर सर्वथा बल दिया।

महादेवी वर्मा के शब्दों में – 'नारी और पुरूष दोनों के व्यक्तित्व अपनी पूर्णता में समाज के एक ऐसे रिक्त स्थान को भर देते हैं, जिससे विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों में सामंजस्य उत्पन्न होकर उन्हें पूर्ण कर देता है। किन्तु न जाने कब इतिहास की अंधी गलियों में नारी को पुरूष की छाया और अनुगामिनी बना दिया गया । वह स्वायत्व व्यक्ति नहीं है, वह प्रथम पंक्ति की व्यक्ति नहीं, वह मात्र अन्या है। पुरूष ने उदार होकर उसे इतिहास, संस्कृति और परम्परा एवं मर्यादा के नाम पर देवी पद दिया है। यह समाज पुरूष सत्ता प्रधान समाज है। नारी का अपना संगठित इतिहास नहीं है जैविक दृष्टि से वह कोमलांगी है। अतः वह दोयम दर्जे की नागरिक बना दी गयी है।

प्रेमचंद ने विवाह–प्रथा को सामाजिक ढाँचा और अर्थरचना से जोड़कर देखा। वर्तमान में भारतीय वैवाहिक प्रथा के दोष की ओर संकेत करते हुए प्रेमचंद मे प्रेम और कर्तव्य पालन में एक धार्मिक भाव छिपा होता है, जो प्रेम नहीं है।

भारतीय नारी से सिर्फ सेवा और त्याग की उम्मीद की जाती है, जिसका लक्ष्य होता है अपने को मिटाकर सब कुछ पति और बाल–बच्चों के लिए अर्पित कर देना।

प्रेमचंद ने नारी के संघर्षशील जीवन तथा सामाजिक सुधार का यथार्थ रूप सेवा–सदन में किया। प्रेमचंद ने इस उपन्यास के माध्यम से सामाजिक विषमता और दोषपूर्ण वैवाहिक प्रथा की चक्की में पिसी एक भारतीय औरत की स्थिति को उजागर करने का सार्थक प्रयास किया है।

हमारे समाज में स्त्री–पुरूष के सम्बन्ध का परम्परागत स्वरूप विषमता और शोषण पर आधारित है। वेश्याओं की तादाद बढ़ती जा रही है, जिसमें वह पूंजीवादी समाज व्यवस्था के अन्तर्गत बदलकर खरीदी–बेची जाती है, इससे बढ़कर नारी अधम दशा क्या हो सकती है? नारी की यह स्थिति सनातन काल से चली आ रही है और आधुनिक समाज में भी वह कॉल–गर्ल के रूप में जानी जाती है। प्रेमचंद वेश्याओं के सवाल को परम्परागत नैतिकता का सवाल नहीं, बल्कि आर्थिक सवाल मानते है।

प्रेमचंद ने सुधारवादी आन्दोलन के चरित्र का अच्छी तरह उद्घाटन किया है। प्रेमचंद वेश्या के जीवन और उसके सुधार के सन्दर्भ में चिन्तित नहीं थे। वह एक बड़ी विडंबना की ओर इशारा कर रहे थे, जो कुप्रथाओं, कुवासनाओं एवं सामाजिक–आर्थिक अत्याचारों के घृणित मेल से पैदा हो चुकी थी और पनप रही थी। उस युग का कोई भी सुधारवादी नेता उपर्युक्त स्वर में आवाज नहीं उठा सकता था। चूँकि प्रेमचंद सामाजिक परिवर्तन में आस्था रखते थे, इसलिए उन्होंने नारी एवं उससे सम्बन्धित पहलुओं की क्रूरता को बड़ी स्पष्टता से उभारा। भारतीय नारी के व्यथा, संघर्ष और त्रासदी की अभिव्यक्ति ही प्रेमचंद का लक्ष्य था।

स्त्रियों के सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक तथा राजनैतिक उत्थान के लिए प्रेमचंद उनके लिए अनिवार्य शिक्षा के साथ–साथ समानाधिकारों के प्रस्तावों का सदैव अनुमोदन करते हैं। शारदा बिल के प्रस्तावों का सदैव अनुमोदन करते है। शारदा बिल के प्रस्तावक श्री हरविलास शारदा को उन्होंने हृदय से लिखा था– "आपका यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा करोड़ों महिलाएं आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी, उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूँ।"

स्त्री न तो धन–दौलत है और न पशु। वह तो पुरूष के समान अस्तित्ववान् चेतन प्राणी है। संसार मे जितना महत्व पुरूष का है उससे कही अधिक स्त्री का है फिर हमारे पूर्ववर्ती धर्मश्रेष्ठों ने स्त्री को द्रव्य की श्रेणी में रखने का प्रयास क्यों किया?

प्रेमचंद स्त्री–स्वातंत्र्य के पूर्ण समर्थक रहे हैं। शिक्षा एवं वैधानिक अधिकारों के साथ प्रेमचंद ने स्त्री के पूर्ण विकास के लिए पर्दा–प्रथा का भी घोर विरोध किया। किन्तु उनके इन विचारों से यह नहीं समझना चाहिए कि वह नारी के असंयताचरण के पक्षपाती हैं। उन्होंने स्त्री और पुरूष दोनों के संयत आचार–व्यवहार पर बल दिया है।

क्षमा, दया, अहिंसा आदि जो पुरूष के लिए उच्चतम आदर्श हैं, उन्हें नारी पहले से ही आत्मसात किये हुए है। अतः मानवीय गुणों का विकास पुरूषों की अपेक्षा स्त्री से अधिक सफलता से हो सकता है। इसीलिए पुरूष की अपेक्षा स्त्री की श्रेष्ठता को स्वीकारते हुए प्रेमचंद नारी के जीवन विकास की समस्त सुविधाओं को उपलब्ध कराने के पक्ष में है। प्रेमचंद नारी को अपेक्षाकृत अधिक शक्ति सम्पन्न देखना चाहते हैं।

प्रेमचंद पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए विवाह की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। प्रतिज्ञा में प्रो. दीनानाथ कहते है – मैंने कभी अविवाहित जीवन को आदर्श नहीं समझा। वह आदर्श हो ही कैसे सकता है?अस्वाभाविक वस्तु कभी आदर्श हो ही नहीं सकती है।

प्रेमचन्द ने कर्मक्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ने कि लिए दाम्पत्य जीवन को नितांत आवश्यक माना है क्योंकि कर्म क्षेत्र में यश का सेहरा भोगियों के सिर बँधा है। अतः विवाह स्त्री–पुरूष के लिए उपयोगी विधान है। वह एक आदर्श समझौता है और उसका ऊँचा आदर्श–उसकी पवित्रता एवं स्थिरता में है। दाम्पत्य जीवन के इसी आधार को पहचानते हुए महाजनी व्यवस्था के युग में जहाँ गरीबी, शोषण, अत्याचार इत्यादि के बाद भी एक किसान के लिए जीवन निर्वाह की समस्या मुख्य थी। प्रेमचंद ने अपने औपन्यासिक पात्र होरी के माध्यम से मनुष्य को उसकी दुर्बलताओं के साथ स्वीकार किया है। उसके द्वारा यह कहना कि किसान का मजदूर बन जाना बड़े शर्म की बात है, इस तमाम कड़वे जीवन सत्य में यदि उसे कोई समझता है तो वह है उसकी पत्नी।

इस बीमारी ने होरी को तो कुचल डाला ही पर धनिया पर भी विजय पा गयी। पति जब मर रहा हो, तो उससे कैसा बैर? ऐसी दशा में तो बैरियों से भी बैर नहीं रहता, वह तो अपना पति है। लाख बुरा हो ; पर उसी के साथी जीवन के पच्चीस साल कटे हैं, सुख किया है तो उसी के साथ, दुःख भोगा है तो उसी के साथ। अब तो चाहे वह अच्छा है या बुरा, अपना है।

यहाँ पर यह समझ लेना अनिवार्य है कि प्रेमचंद ने जिस दाम्पत्य की आधारशिला पर गोदान जैसे उपन्यास को रचा उसमें *धनिया का त्याग, पतिव्रता धर्म का पालन, समर्पण* और एक जिम्मेदारी का भाव था जो प्रगतिशीलता के प्रतिरूप होरी की प्रेयसी और पत्नी दोनों रूप में समान भाव से था जिसने उसके (होरी) अन्दर छिपे देवता को पहचान लिया था, गरीबी के उस नैराश्यपूर्ण जीवन में भी मात्र एक कपड़े में ही जीवन व्यतीत करना जिसमें आधुनिक समाज की तरह पारिवारिक मूल्यों का खण्डन नहीं किया वरन् उसमें भी सुखानुभूति ही नारी धर्म का लक्ष्य है।

प्रेमचन्द ने नारी की चारित्रिक दृढ़ता को लेखन का मूलाधार माना है। नारी चाहे सवर्ण हो या असवर्ण, यदि उसके अन्दर चारित्रिक दृढ़ता है तो वह अपने लक्ष्य में अवश्य सफल होगी। प्रेमचंद के साहित्य में नारी–प्रेम के उस स्वरूप के जिससे वह सरस, आह्लादक, आकर्षक एवं प्रेरणाप्रद बन जाता है। कहीं वह प्रेम माता के निर्विकार वात्सल्य के रूप में छलका है, तो कही पति–प्रेम के रूप में प्रवाहित हुआ है। कहीं प्रेमिका की भीनी चितवन के रूप में उसने अपने प्रेमी की छला है, तो कहीं वह राष्ट्रीय भावना से उद्‌बुद्ध होकर राष्ट्र की पावन बलिवेदी पर ही समर्पित हो गया है। लेकिन यह उसकी सर्वोपरि विशेषता रही है कि वह सर्वत्र पवित्र बना रहा।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से समग्र नारी जीवन की सूक्ष्मताओं को बड़ी सफलता के साथ समेटने का सार्थक प्रयास किया है। उनका साहित्य धार्मिक, सामाजिक जातीय अथवा राजनीतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर नारी आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहा था। जिस समर्पण और त्याग की भावना ने नारी को देवी बनाया जब वही उसके लिए बन्धन बनने लगे तो उससे मुक्ति के स्वर को अपने औपन्यासिक स्त्री पात्रों द्वारा मुखरित करते हैं। आधुनिकता का गलत अभिप्राय लगा लेने से आज का स्त्री लेखन जिस विद्रूपता के दौर से गुजर रहा है– वहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि आधुनिकता एक सतत् परिवर्तनशील प्रक्रिया है। वर्तमान स्त्री विमर्श के दौर में स्वयं को पुरूषवादी दृष्टि से शोषित पीड़ित बताती हुयी स्त्री अपने मन के अर्न्तद्वन्द्व को प्रचारित कर रही है – जहाँ उसकी भाषा देह से जुड़ी है का सीधा अभिप्राय मुक्ति से न होकर लोकप्रियता से जुड़ा है तो हम यह निःसंकोच भाव से कह सकते है कि प्रेमचंद ने ग्रामीण परिवेश और सामन्तवादी दौर में नारी की जिन समस्याओं का चित्रण और उसका जो समाधान किया वह वास्तविक अर्थों में नारी मुक्ति अवधारणा का सराहनीय प्रयत्न है; जो वर्तमान सन्दर्भ में उतना ही प्रासंगिक है जितना जीवन में साहित्य।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. प्रेमचन्द : एक विवेचन – डा. इन्द्रनाथ मदान
2. प्रेमचन्द का पुर्नमूल्यांकन – शम्भूनाथ
3. प्रेमचन्द के जीवन दर्शन के विधायक तत्व – कृष्णचंद पाण्डेय
4. प्रेमचन्द विरासत का सवाल – शिवकुमार मिश्र
5. प्रेमचन्द और उनका युग – डा. रामविलास शर्मा
6. कुछ विचार – प्रेमचन्द
7. प्रेमचन्द घर में – शिवरानी देवी
8. प्रेमचन्द और गांधीवाद – डा. रामदीन गुप्त

'शोध'

कथा सहित्य में नारी चेतना और परम्परा की टूटती बेड़ियाँ

वन्दना तिवारी
शोध छात्रा–हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जब परम्परायें युग के अनुरूप अपने को समायोजित नहीं कर पातीं तो उनमें बदलाव अवश्यंभावी हो जाता है, क्योंकि युग विशेष के सन्दर्भ में तो इनका मूल्य होता है लेकिन कुछ समय पश्चात् जब परिस्थितियाँ बदलती हैं तो उनके मूल्य भी बदलते हैं और फिर इनमें भी बदलाव आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बिना परिवर्तन के ये परम्परायें मनुष्य के विकास में सहायक न होकर विकास के मार्ग का रोड़ा बन जाती हैं, जो इन परम्पराओं की जीवनी शक्ति के समाप्त होने की सूचक होती है, जिसके उपरान्त ये रूढ़ियां बन जाती हैं। जैसे सती प्रथा, जौहर प्रथा आदि परम्परायें थी जिनकी गौरव गाथायें गायी जाती थीं। उस समय इन परम्पराओं का मूल्य था। बाह्य आक्रमण के कारण स्त्रियां असुरक्षित हो गयी थीं। उनकी सुरक्षा के लिए इन प्रथाओं का आरम्भ किया गया। जब उस युग की समाप्ति हुई और नये युग में इनका कोई मूल्य न था। अतः तिरस्कृत होकर ये समाप्ति की ओर अग्रसर हो गयी। जैसा कि 'त्रिशंकु' में अज्ञेय लिखते हैं, "एक विशेष सीमा तक व्यक्ति समाज के अनुकूल अपने को गढ़ता है। स्वीकृति पाने का यह मूल्य वह चुकाता है। उसके बाद तब उठता है।"[1] इसीलिए आज की कथा लेखिकाएं अपने विचारों को तब तक प्रतिध्वनित करती रहेंगी जब तक कि सदियों की परंपराओं का आच्छादन झिर–झिरा न हो जाए। वे कहती हैं कि "कितना चाहती हूँ कि हम हमारा समय हमारी पीढ़ी सब कुछ गलत सिद्ध हो जाये... तुम लोगों में से कोई उठे और सड़ी–गली केंचुल को उतार फेंके।" क्योंकि इन जड़ रीतियों व प्रथाओ ने महिलाओं को चुना तथा उनके सामाजिक विकास के मार्ग के ही अवरूद्ध नहीं किया, बल्कि मानसिक विकास में भी बाधा उत्पन्न किया। चाहे वह विधवा समस्या हो, पुनर्विवाह हो, संतान पोषण का सन्दर्भ हो, सामाजिक रिवाज–लड़की देखना, दहेज प्रथा, हर जगह स्त्री का ही दमन होता है। अतः रूढ़ परम्पराओं के विरूद्ध आवाज उठाकर नारीवादी कथाकारों को अभी भी सामाजिक भेदभाव, सामाजिक अन्याय को दूर करने की लड़ाई जीतनी है। फलतः उन्होंने कथा साहित्य को अपनी दृष्टिकोण, अपनी विद्रोहाभिव्यक्ति, समस्याओं के बाह्य व आंतरिक रूपों को प्रकट करने का माध्यम बनाया।

हमारे कथाकारों ने परम्पराओं के प्रति बदलती नारी चेतना को अनेक प्रकार से रूपायित किया है। उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार चेतना से युक्त नारी जर्जर होती परम्परा को जो उसके पैरों की बेड़ियां बन उसे आगे बढ़ने से रोकती है उनको तोड़ वह अपना मार्ग प्रशस्त करती हुई शिखर पर पहुँचती है, जिसका वर्णन हमारे साहित्यकारों ने अपनी कहानी और उपन्यास विधा के माध्यम से किया है। जैसे दीप्ति खण्डेलवाल की 'निर्बन्ध' कहानी की नायिका अपनी अस्मिता और स्वतन्त्रता के प्रति जागरूक तथा पारम्परिक सारी मान्यताओं को नकार कर निर्द्वन्द्व और उन्मुक्त जीने में विश्वास करती है। यही नहीं उषा प्रियंवदा की 'प्रतिध्वनि' या 'कितना बड़ा झूठ' या 'मन्नू भंडारी की 'ईसा के घर', 'इंसान,' 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'जीती बाजी की हार', 'गीत का चुंबन', उषा प्रियंवदा की 'जाले', 'पूर्ति', शशिप्रभा शास्त्री की 'बिखरते बादल', 'सिमटते किनारे', 'अंतरंग', 'बीच की कड़ियां' आदि कहानियां नारी की इस संघर्षपरक द्वन्द्वात्मक स्थिति का यथार्थ चित्रण है। प्रतिभा और ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण उनकी चेतना निरंतर उन्हें आन्दोलित करती रहती है। प्रतिध्वनियाँ में नायिका स्थिति से लड़कर बाहर निकल जाना चाहती है। अर्थहीन रिश्तों को स्वीकार करने की शक्ति उसमें थी "जैसे मीनिंग लेस श्यामल से विवाह की रस्म थी वैसे रूचि का जन्म भी एक बॉयलाजिकल घटना से अधिक न था"[2] इस प्रकार जब हम स्वातंत्र्योत्तर कहानियों का देखते हैं तो हम पाते हैं कि विद्रोही विचारों और खंडित मूल्यों की पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। ये कहानियाँ स्त्री की छटपटाहट का स्वतन्त्र एवं ईमानदार दस्तावेज हैं।

नारी चेतना की यह अभिव्यक्ति हमें न सिर्फ कहानियों में ही बल्कि उपन्यासों में भी बड़ी तटस्था से देखने को मिलती है। चाहे वह मन्नू भंडारी की 'आपका बंटी' की शकुन हो, जो पति द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर अपने अस्तित्व को सिद्ध करती हुई पुनर्विवाह करती है या उषा प्रियवंदा के उपन्यास 'रूकोगी नहीं राधिका' की राधिका जो पिता का आब्जेक्शन तोड़कर अपने लिए पति तलाश लेती है, तो कहीं स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों को नया आयाम देती ममता कालिया के 'बेघर' की संजीवनी हमारे सामने उपस्थिति होती है। यही नहीं उषा प्रियंवदा की 'शेष यात्रा' की अनुष्का विदेश में भी प्रणव के छोड़ने पर खुद को स्थापित करती है। राजी सेठ के 'तत्सम' की वसुधा है जो विधवा होने पर पुनर्विवाह के लिए मनचाहा वर तलाशती है और अपनी माँ का विरोध सहन करती है तो दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा की 'मुझे चाँद चाहिए' की नायिका का सिलबिल से वर्षा वशिष्ट के शिखर तक की यात्रा हो या नासिरा शर्मा की 'ठीकरे की मंगनी' की नायिका महरूख एक स्थान पर कहती है 'एक घर औरत का अपना भी तो हो सकता है जो उसके बाप और शौहर के घर से अलग उसकी मेहनत और पहचान का हो।" इसी सोच से नारी अपने मूल्यों को बदल अपनी परंपरागत छवि को तोड़ती हुयी

उन परम्पराओं को नकारती है जो उसके समग्र विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। जिसकी झलक हमें मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' की सारंग व रेशम व 'झूला नट' की शीलो ये सब रूढ़िबद्ध परम्पराओं का विरोध करती है तथा अपने व्यक्ति होने का पहचान कराती हुयी सम्पत्ति और भोग्या होने से इनकार करती है क्योंकि जब वे अपना मूल्यांकन करती हुयी यह सोचती है कि वे पुरूषों की तुलना में पिछड़ी हुयी अबला क्यों कहलायी। तो वे पाती है कि कुछ अस्वस्थ परम्पराओं और मूल्यों की जकड़न ने स्त्रियों को असहाय बना रखा है इसलिए वे उन अस्वस्थ परम्पराओं को तोड़ती हुयी यह चाहती है कि स्त्री–पुरूष दोनों के लिए एक कसौटी पर खरी उतरने वाली स्वस्थ्य परम्पराओं का निर्माण किया जाए न कि दोनों के अलग–अलग परम्परायें बनाई जायें। नारी की यह प्रतिक्रिया उसके चेतना सम्पन्न होने का प्रमाण है।

इस प्रकार हम यही स्पष्ट करना चाहेंगे कि नारी यह ज्ञान है कि स्वस्थ परम्पराओं को नकार वह अधोगति की ओर ही जायेगी। इसलिए वह उन्हीं परम्पराओं के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद करती है जो उसके हितों की उपेक्षा कर उसके विकास में बाधा बनती हैं। वह उन रूढ़ि परम्पराओं को बदल स्वस्थ्य परम्पराओं का निर्माण कर व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति के निकष के रूप में परम्पराओं के महत्त्व को समझकर अपनी जागरूकता का प्रमाण देती है।

सदर्भ ग्रन्थ

1. दूसरे देशकाल में, राजी सेठ, पृ0 96
2. कितना बड़ा झूठ, उषा प्रियंवदा, पृ. 84–85

❖❖❖

सारनाथ का सामान्य अन्वेषण

शत्रुघ्न कुमार गौतम
'शोध'
शोध छात्र–इतिहासक
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी।

सारनाथ का इतिहास बुद्ध के सारनाथ आगमन से ही आरम्भ होता है। यह काशी से लगभग 7 किलोमीटर उत्तर की ओर विराजमान है। इसी भूमि पर 600 ई0 पू0 बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश पाँच भिक्षुओं को दिया था। इसे बौद्ध साहित्य में धर्म चक्र प्रवर्तन कहा गया है। पूर्व छठी शताब्दी ई0 पू0 से ही इसका साहित्यिक विवरण भी मिलता है। इस भूमि पर लगभग सभी धर्मों का विकास हुआ है। आगे चलकर यह धर्म व कला का केन्द्र बना तथा यह इस रूप में पूर्व मध्य काल तक रहा है।

सारनाथ का परिचय उस समय मिला जब 1764 में काशी के राजा चेत सिंह के दीवान बाबू जगत सिंह ने यहाँ इमारती समान की टोह में अशोक द्वारा निर्मित धर्म राधिका स्तूप को तोड़ दिया था। उस समय के ब्रितानी अधिकारी डंकन महोदय की दृष्टि सारनाथ के ध्वंसावशेष पर गई और उसने इस खुदाई के द्वारा अनेक अवशेषों को प्राप्त किया।

इतिहास एवं भूगोल एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। भौगोलिक अध्ययन के अभाव में किसी स्थान नगर अथवा देश का इतिहास अपूर्ण होता है । सारनाथ 25° 18 अक्षांश उत्तर तथा 83° देशान्तर पूर्व में स्थित है।

सारनाथ वाराणसी नगर के उत्तर में लगभग 6 किलोमीटर की दूरी पर वाराणसी गाजीपुर मार्ग पर स्थित है। वाराणसी उत्तर प्रदेश का एक जिला है। वाराणसी से सारनाथ पहुँचने के लिए बस, तांगा, गाड़ी, जीप, ट्रेन आदि सुलभ है। हवाई मार्ग से सारनाथ बाबतपुर हवाई अड्डे भी जुड़ा है। वह वाराणसी स्टेशन से लगभग 23 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहाँ के लिए यातायात का प्रमुख राजमार्ग ग्रैंड ट्रंक रोड है जो नगर से होकर गुजरता है। वाराणसी नगर गंगा के बायें किनारे पर अर्द्ध चन्द्राकार आकृति में बसा है। यहाँ से सारनाथ की दूरी वरणा (वरूणा) नदी से 3 किलोमीटर उत्तर में है। जातक में सारनाथ से तक्षशिला की दूरी 120 योजन बतायी गयी है। अरूवेला "बोधगया" से यह दूरी 18 योजन है। इसकी स्थिति के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में मतैक्य है।

मृगदाव वन सारनाथ की ऋषिपत्तन भृगदाव में गौतम बुद्ध ने पाँच भिक्षुओं को प्रथम उपदेश दिया था। यह उपदेश घने जंगलों के बीच दिया गया था जहाँ मृगों का प्रधान्य था यह वन वाराणसी के समीप उत्तर पूर्व दिशा में स्थित था। महावस्तु अवदान में इसे महावन खण्ड कहा गया है तथा इसे वाराणसी से अर्द्ध योजन दूर बताया गया है। चीनी यात्री फाहियान तथा ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में वाराणसी नगर और आसपास की प्राकृतिक घटा सौन्दर्य का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि जमीन पर हरे पत्तों तथा वृक्षों से हरियाली छायी रहती थी। सारनाथ रमणीय उद्यानों तड़ागों एवं वृक्षों के मध्य स्थित था। जातक कथाओं एवं वृक्षों के अनेक विवरण मिलते हैं किन्तु उनमें नामोल्लेख नहीं मिलते। अटटकथा में भी घने जंगलों के विवरण है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनेक आखेटकों के उल्लेख हैं।

इनसे जंगली पक्षियों एवं जन्तुओं के वनों में निवास का अनुमान होता है। समुद्र वणिव जातक एवं बढ़ढ़की सूकर जातक में बढ़ई गिरी एवं लकड़ी के खिलौने आदि बनाने का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि इमारतों आदि में प्रयुक्त एवं खिलौने बनाने के लिए लकड़ी यहाँ के बनों से ली जाती रही होगी। तक्कारीय जातक में वनों के उल्लेख के साथ–साथ बास के मुण्डों का उल्लेख है, इससे स्पष्ट होता है कि बास के मुण्ड। जड़। पर्याप्त मात्रा में इस नगर के चारो ओर बिखरे हुए होंगे। अलीन. चित जातक में घनी झाड़ी का उल्लेख है, इसे काशी से दूर बताया गया है। इससे अनुमान होता है कि इस नगर में चातुर्दिक वनों के अतिरिक्त झाड़ियाँ भी थीं। ऐसे घने जंगल धर्म– कर्म के लिए उपयुक्त कोलाहल हीन वातावरण के कारण ही संभव भिक्षुओं आदि में लोक प्रिय हुए होंगे।

ग्राम व नगर–

ग्राम एवं नगर के एक दूसरे के पूरक हैं। पालि साहित्य से काशी राष्ट्र के छिद्र–फुट ग्रामों का उल्लेख मिलता है। गहड़वाल अभिलेखों[13] में भी भूमिदान के सिलसिले में वाराणसी के कई ग्राम उल्लिखित हैं।

सारनाथ (ऋषिपत्तन मृगदाव)

सारनाथ बौद्ध धर्म का एक पवित्र स्थल मान्य है। बुद्ध ने ईसा पूर्व 588 में आषाढ़ पूर्णिमा के दिन यहीं पर भिक्षुओं को दीक्षा दी थी, इसे साहित्य में धर्म चक्र प्रवर्तन कहा गया है। इसे पालि साहित्य में ऋषिपत्तन मृगदाव कहा है। चीनी यात्री ह्वेनसांग इसे वरूणा के उत्तर में 100 मीटर की दूरी पर स्थित बताया है। चीनी यात्री ने इस नगर को उच्च शिक्षा का केन्द्र भी बताया है। बौद्ध ग्रंथों में उन्हीं ग्रामों का उल्लेख मिलता है। जैसे– बरईपुर (वाराणसी अन्य), सिंह पुर ग्राम में श्रेयांशनाथ का जन्म हुआ था। जैन तीर्थंकर श्रेयांशनाथ के पिता इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार विष्णु और माता देवी सिंहपुर के निवासी थे।

वासमग्राम (वासभगाम).

वासभगाम ग्राम वाराणसी नगर के समीप तथा सारनाथ के पूर्व में स्थित है महावग्ग से पता चलता है कि इस ग्राम में जो कश्यप

गोत्र के भिक्षु आश्रम बनाकर रहते थे। विनयपिटक[12] में उल्लिखित है कि द्वितीय बौद्ध धर्म संगीति में उपस्थित होने वाले भिक्षु यहीं के निवासी थे यहाँ अब भी अनेक खण्डित अवशेषों के बिखरें हुए टुकड़े हैं।

सारनाथ (ऋषि पतन) मृगदाव नाम बौद्ध काल से लेकर 12वीं शताब्दी तक प्रचलित रहा। मुस्लिम काल में चूँकि यह सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र भग्न हो गया इसलिए धीरे–धीरे इसका नाम भी लुप्त हो गया। बाद में कनिंघम ने अपने सर्वेक्षण से इस ग्राम को सारनाथ कहा है। सारनाथ संभवतः सारंगनाथ का ही बिगड़ा हुआ रूप है। सारंगनाथ शिव के नाम के रूप में उनके पशुपति रूप का परिचायक है।

1. राय, चौधरी, एच0सी0 इण्डियन हिस्तारिकल क्वाटर्ली, भा0 4, पृ0 228।
2. सिंह, राम लोचन, बनारस ए स्टडी ऑव अर्वन ज्याग्राफी पृ 18।
3. नेविल, आर0 एच0 बनारस गजेटियर, पृ0 10।
4. रक्षित भिक्षुधर्म, सारनाथ का इतिहास, पृ0 12।
5. बुद्ध0 चरि.0 अध्याय 17.4.5।
6. गाइलस, एच0 ए0 द ट्रेवेल्स ऑफ इण्डिया।
7. बील, ट्रेवेल ऑद ह्वेनसांग भा03, पृ0 299।
8. उक्ति, 41, 10, 43, 25, 480, 27, 48–12, 16–20।
9. कर्निंघम, आ0 स0 रि– 1861–62 भाग पृ0 106–1।
10. नि0 श0 प0 च0 4, 186।
11. उत्तराध्ययन सूत्र पृ0 103।
12. विनयपिटक
13. गहलवाल अभिलेख।

❖❖❖

जैव–विविधता एवं संरक्षण

नवीन मिश्रा
शोध छात्र, भूगोल विभाग
बी0 एच0 यू0, वाराणसी।

शोध

प्रकृति विविधताओं से परिपूर्ण है जिससे एक सूक्ष्म पौधे से लेकर विशाल वृक्ष रेडवुड तथा सूक्ष्म प्लेंकटन से लेकर विशालकाय प्राणी ह्वेल पाये जाते हैं। यह जैविक विविधता तथा सम्पन्नता प्रकृति के लिए महत्वपूर्ण है। जो पृथ्वी विकास की प्रकिया का परिणाम है। प्रकृति ने स्थल, समुद्रों, किलों, नदियों आदि में विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों और उभयचर जलचर एवं थलचर जीवों का सृजन किया है। पारिस्थितिकी को सन्तुलित बनाये रखने के लिए इन सभी घटकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जैव विविधता स्वयं ही स्पष्ट शब्द है जिसमें पृथ्वी या उसके किसी क्षेत्र विशेष पर मौजूद जैव समुदाय की समग्रता को सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी प्राकृतिक प्रदेश में पायी जाने वाली जंगली व पालतू जीव –जन्तुओं एवं पादपों की प्रजातियों की बहुलता को जैव विविधता कहते हैं। ये सभी घटक धरातल के जैविक संसाधन है, जिनकी पारिस्थिकी सन्तुलन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ये पृथ्वी पर जीवन के आधार है। वास्तव में जैव विविधता सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। प्रकृति की संरचना के अनुकूल प्रत्येक जीव–जन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। यदि इनमें किसी का भी ह्रास हो जाता है तो उसका प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है । पर्यावरण ह्रास के कारण ही पिछले कुछ वर्षों में इस संकल्पना का विकास हुआ है तथा प्राकृतिक आवासों के विनाश के कारण जैव विविधता का संकट गहरा गया है।

जीवों की प्रकृति के आधार पर जैव विविधता को तीन वर्गो में विभाजित किया जाता है। जिस पर जैव विविधता का अस्तित्व निर्भर है तथा इन पारिस्थितिकी तंत्रों को संरक्षित रखना एक महान् चुनौती है।

1. आनुवांशिक विविधता– यह किसी प्रजाति विशेष में एक समान जीन की विभिन्न पीढ़ियों में मिलने वाली विविधता होती है।

2. जातीय विविधता– किसी पारिस्थितिकी तन्त्र या समुदाय विशेष में मिलने वाली विभिन्न प्रकार के जीवों की संख्या का विवरण जातीय विविधता कहलाता है।

3. पारिस्थितिकी विविधता– यह किसी जैविक समुदाय में मिलने वाली पर्याप्तता एवं जटिलता का आकलन या मूल्यांकन है जिसमें नीश, संख्या पोषण स्तर, तथा उस पारिस्थितिकी प्रकिया को सम्मिलित करते हैं जो खाद्य जाल के पोषण और इस क्षेत्र के पदार्थों के पुनर्चक्रण के लिए ऊर्जा का आहरण करते हैं।

जलवायु एवं प्राकृतिक विविधता के कारण भारत की जैव विविधता समृद्ध है। अफ्रीका के बाद भारत एक ऐसा देश है जहाँ जैव विकास व वन्य जीवन के लिए आवश्यक वातावरणीय दशाओं की विविधता रही है। वन्य जीवन की प्रचुरता में यदि अफ्रीका प्रथम स्थान पर है तो वन्य जीवन की विविधता में भारत अफ्रीका से भी अधिक समृद्ध एवं आकर्षक है।

भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में पाये जाने वाले प्रमुख वन्य जीवों का वर्णन निम्नलिखित है–

1. हिमालय क्षेत्र में प्रमुख वन्य जीव– हिमालय में 2000मीटर से लेकर हिमरेखा तक की उँचाई पर विभिन्न प्रकार के जन्तु, कस्तूरी मृग, लम्बी रेशे वाली भेड़ें तथा हिमालय की निचली ढ़लानों पर कुरंग या मृग, रंग – बिरंगी लोमड़ियाँ, खरहे, नेवले, गलिहरियाँ तथा भेड़िये आदि पाये जाते हैं।

2. तराई क्षेत्र के प्रमुख वन्य जीव– यहाँ जंगलों व मैदानों मे रहने वाले जीव जैसे– कुरंग, भैंसे, मृग, हाथी, एक सींगी गैंडे, लकड़बग्घे, सियार, बाघ, विभिन्न प्रकार की पक्षियाँ व मगरमच्छ पाये जाते हैं।

3. गंगा का मैदानी क्षेत्र– विभिन्न प्रकार के जन्तुओं में कुरंग, मृग, हाथी, सॉभर, जंगली कुत्ते, बाघ, चीते, तेंदुए आदि पाये जाते हैं।

4. उत्तर पूर्व सदाबहार क्षेत्र– यहाँ बाघ, चीता, तेंदुए, मृग, गैण्डा, हाथी, बन्दर, चमगादड़, नेवला, जलभैंसे, भौकने वाले मृग, गन्ध बिलाव, तथा गिब्बन भारत का अकेला कपि आदि प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

5. थार रेगिस्तान क्षेत्र– यहाँ मुख्यतः कुतरने वाले जीव जैसे – चूहे, मोर, छिपकलियां, कबूतर, हुकना, फाख्ता आदि पाये जाते हैं तथा राजस्थान के जंगल में काले मृग भी पाये जाते हैं।

6. मध्य भारत और दक्षिणी पठार– यहाँ पर बन्दरों, नेवलों, गन्ध बिलावों, तथा अनेक प्रकार के मनोहारी पक्षियों का वास है। साथ ही साथ बाघ, अनेक प्रकार के पक्षी, सॉप, मगरमच्छ, लीमर गौर, साही, रीछों तथा सिल्लू आदि पाये जाते हैं।

इसी प्रकार देश में पौधों की लगभग 47000 प्रजातियां पायी जाती हैं। इनमें 5000 प्रजातियां ऐसी है जो केवल भारत में पायी जाती है। भारत की उच्चावच्च स्थाकृतियों, मृदा, दैनिक तथा वार्षिक तापान्तरों, वर्षा की मात्रा तथा इसकी अवधि के अन्तर के कारण पौधों की विविधता पायी जाती है। यहाँ उष्णकटिबन्धीय से लेकर ध्रुवीय वनस्पति तक पायी जाती है।

1. उष्ण कटिबन्धीय सदाहरित वन– इनमें रबर, महोगनी, एबोनी, नारियल, बॉस, सिनकोना, बेंत, ताड़, आयरन बुड है जो पश्चिमी घाट के पश्चिमी ढाल अण्डमान निकोबार द्वीप समूह, अरूणाचल प्रदेश को छोड़कर पूर्वोत्तर राज्यों मे पाये जाते हैं।

2. उष्ण कटिबन्धीय पतझड़ वन– इनमें साल, सागौन, शीशम, चन्दन, कुसुम, पलास, हल्दू, आवला, शहतूत, बॉस, कत्था व पैडुक पाये जाते हैं जो पश्चिमी घाट के पूर्वी ढाल, हिमालय के तराई भाग, पंजाब, हरियाणा, उ0प्र0, बिहार, प0 बंगाल छत्तीसगढ़, झारखण्ड में पाये जाते हैं।

3. उष्ण कटिबन्धीय शुष्क मानसूनी वन– इनमें आम, महुआ, बरगद, शीशम, हल्दू, कीकर, बबूल, के वृक्ष तथा सवाना प्रकार की घासें, सवाई, मूंज, हाथी व कांस घास उगती हैं वे पूर्वी राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, प0 उ0प्र0, म0 प्र0, पूर्वी महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, प0 कर्नाटक, पूर्वी तमिलनाडु में पाये जाते हैं।

4. मरूस्थलीय व अर्द्धमरूस्थलीय वन– इनमें बबूल, खेजड़ा, खैर, खजूर, रामबॉस, नागफनी, है जो द0प0 हरियाणा, प0

राजस्थान, उ0 गुजरात, कर्नाटक के वृष्टि छाया प्रदेश में पाये जाते हैं।

हिमालय क्षेत्र के वनों में पूर्वी हिमालय में ऊँचाई के साथ वनों में अन्तर आता जाता है। धरातल से 1500 मीटर तक की ऊँचाई में सदाबहार वन, 1500 मीटर से 3000 मीटर तक देवदार, ओक, ब्लूपाइन, 3000 मीटर से 3600 मीटर तक कोणधारीवन जिसमें चीड़, अल्पाइन, सिल्वर, वर्च, स्प्रूस, तथा 3600 मीटर से हिम रेखा तक काई, लाइकेन के रूप में टुंड्रा वनस्पति पायी जाती है। इसी प्रकार प्रायद्वीपीय भारत में 1500 मीटर की ऊँचाई पर वन पाये जाते हैं। जिनमें मैग्नोलिय, लारेल, यूकेलिप्टस, सिनकोना, वाटल प्रमुख है।

जम्मू–कश्मीर में शीतोष्ण घास मर्ग तथा उत्तरांचल में बुग्याल व पयाल पायी जाती है। जबकि म0 प्र0 में सबाना तथा राजस्थान में सवई उष्णकटिबन्धीय घास पायी जाती है।

प्रकृति में पाये जाने वाले जीव अनेक रूपों में लाभदायक है। मनुष्य प्राचीन काल से ही जैव विविधता का शोषण करता आ रहा है तथा अनेक प्रजातियॉ मानव के उत्थान के पूर्व ही विलुप्त हो चुकी हैं। जैव विविधता के कारण नयी औषधियों का निर्माण कृषि में सुधार व उद्योगों के लिए कच्ची सामग्री प्राप्त होती है तथा इसमें मानव को भोजन, ऊर्जा, वैज्ञानिक ज्ञान व सांस्कृतिक जीवन प्राप्त हो पाता है और जीवन की गुणवत्ता कायम रहती है। साथ ही जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक होता है अतः एक ओर भोगात्मक महत्व है तो दूसरी ओर इसकी उत्पादक प्रकृति भी है। पारिस्थितिकीय तंत्र की स्थिरता में जैव विविधता का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। विविधा पूर्ण जैव समुदाय अपनी स्थिरता को आसानी से कायम रखता है जबकि कम जातियों वाला पारिस्थितिकी तंत्र शीघ्रता से पुनः पूरित नहीं हो पाता तथा पर्यावरणीय संकट की स्थिति पैदा होने लगती है।

प्रकृति में विभिन्न जातियों के जीवों का मरना व उनके स्थान पर अन्य नयी जातियों के उद्भव की प्रक्रिया प्राचीन काल से चली आ रही है। औद्योगीकरण व नगरीकरण के इस युग में बढ़ती जनसंख्या के कारण अधिकाधिक भूमि पर से जंगलों को साफ कर कृषि योग्य बनाया गया है तथा मकान, सड़के, पार्क तथा अन्य क्रियाओं के लिए अधिक से अधिक भूमि का उपयोग किया गया है। मानव द्वारा प्रकृति का अनुचित उपयोग बिखरे हुए तथा अधूरे तंत्रों को जन्म देता है। इनका वायु, जल मृदा, तथा पृथ्वी के जैविक संसाधनों पर कुप्रभाव पड़ता है। वर्तमान में जैव विविधता के ह्रास के प्रमुख कारणों में उनके प्राकृतिक आवासों का विनाश, शिकार, त्वरित मत्स्यन, स्थानान्तरण झील कृषि, व्यापारिक उत्पादन तथा प्रदूषण है। साथ ही तापमान वृद्धि, जलवायु परिवर्तन, ओजोन क्षरण, अम्ल वर्षा तथा अनेक आकस्मिक घटनायें प्रमुख हैं।

ये ऐसे स्थान होते हैं जहॉ पर ज़ातियों की पर्याप्तता एवं स्थानीय जातियों की अधिकता पायी जाती है, लेकिन इन जीव जातियों के अस्तित्व पर निरन्तर संकट बना रहता है।

विश्व में चिह्नित कुल 25 हाट–स्पाट है जिनमें से 2 भारत में स्थित है। भारत का पहला हाट–स्पाट पश्चिमी घाट है जिसका विस्तार श्रीलंका तक है तथा दूसरा पूर्वी हिमालय है जो म्यांमार तक विस्तृत है। इन दोनों ही स्थलों में पादप जगत् की बहुलता पायी जाती है। विश्व की ज्ञात पादप जातियों की 30 प्रतिशत क्षेत्र विशेषी पादप जातियॉ भारत में पायी जाती है। भारत में लगभग 5750 जातियॉ क्षेत्र विशेषी है जिसमें 1650 जातियों पश्चिमी घाट में पायी जाती है।

भारत में लगभग 81000 जीव–जन्तुओं तथा 47000 प्रादपों की जातियाँ पायी जाती है। इनमें से 1500 प्रजातियॉ अत्यन्त ही संकटग्रस्त है। भारत में विश्व की 85 प्रतिशत प्रजातियॉ निवास करती है। भारत में विश्व का 2 प्रतिशत वन, 18 प्रतिशत पशु, 60 प्रतिशत बाघ, 70 प्रतिशत एशियाई हाथी, व इतने ही गैण्डे पाये जाते हैं।850 बैक्टीरीयां,23000 फंगाई, 2500 एल्गी, 1600 लाइकेन्स,2664 ब्रायोफाइटा,1022 टेरीडोफाइटा, 64 जिमपनोस्पर्म,1500एन्जीयोस्पर्मस,2546 मछलियाँ, 372 स्तनधारियों, 204 एम्फीबियन्स, 4050 मोलस्क, प्रजातियॉ पायी जाती है। जिनमें से 83 स्तनधारियों की, 113 पक्षियों की, 21 सरीस्तपों की, 3 एम्फीबियन्स की तथा अनेक कीड़े–मकोड़ों की प्रजातियॉ लुप्तप्राय है।

जैव विविधता को संरक्षित रखने के लिए प्राकृतिक आवास के रूप में वनावरण पाया जाता है। अतः कृत्रिम ढंग से उसमें सुधार किया जाना चाहिए तथा आवास स्थल में सुधार यहाँ पायी जाने वाली प्रजाति विशेष को ध्यान में रखकर करनी चाहिए। भारत में वन्य जीवों के संरक्षण को ध्यान में रखते हुए 13 जैव मण्डल स्थापित किये गये हैं,जिसमें पौधों, जन्तुओं तथा सूक्ष्म जीवों की विविधता संरक्षित हो रही है।

1. नीलगिरी 2. नन्दादेवी, 3. नोकरेक 4. मानस 5. सुन्दरवन 6. मन्नार की खाड़ी 7. ग्रेट निकोबार 8. सिम्मलीपाल 9. डिबूसैखोवा 10. दिहांग–देवांग 11. पंचमढ़ी 12. कंचन जंगा 13. अगत्समलाई।

अभी तक भारत में 92 राष्ट्रीय उद्यान तथा 5 बन्य जीव अभ्यारण्य की स्थापना हुई है। जिसमें जीवों व वनस्पतियों को उनके प्राकृतिक स्थानों पर ही संरक्षित किया जा रहा है। कुछ जीवों का संरक्षण उन्हें स्थानान्तरित करके कृत्रिम ग्रीन हाउस निर्मित कर उचित जलवायु प्रदान कर किया जा रहा है।

भारत में वन्य जीवों का संरक्षण 1952 से 1972 तक राष्ट्रीय वन नीति के तहत होता था। 1972 में केन्द्रीय वन्य जीव रक्षा अधिनियम बनाया गया, जो वर्तमान समय में सम्पूर्ण देश में प्रभावी है। इस अधिनियम के तहत उन प्राणियों का उल्लेख है जो प्राकृतिक असन्तुलन के कारण विलुप्त के कगार पर थे किन्तु संरक्षण उपायों से सुरक्षित है। 1988 में राष्ट्रीय वन नीति बनी तथा पर्यावरणीय सुधार अधिनियम 1980 में सुधार किया गया। वन्य जीवों के संरक्षण से सम्बन्धित शिक्षा के लिए 1982 में देहरादून में भारतीय वन्य जीव संस्थान की स्थापना की व्यवस्था की गयी, जिसका उद्देश्य वन्य जीव की व्यवस्था से सम्बद्ध लोगों को वैज्ञानिक ढंग से व्यावसायिक प्रशिक्षण देना है।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. भौतिक पर्यावरण (भारत) : एन.सी.ई.आर.टी.
2. भारत का भूगोल : आर.सी. तिवारी
3. भारत : अलका गौतम तथा वी.एस. चौहान
4. परीक्षा मंथन : पर्यावरण विशेषांक
5. पर्यावरण नियोजन एवं संविकास : जगदीश सिंह

❖❖❖

भारतीय लोकतन्त्र में सूचना का अधिकार

'शोध'

प्रदीप कुमार जायसवाल
शोध छात्र– राजनीति विज्ञान विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

भारतीय लोकतन्त्र में आज सबसे बड़ी चुनौती यह है कि जनता के इस शासन में जनता को अधिक से अधिक कैसे भागीदार बनाया जाए ? स्वाधीनता के बाद भारतीय लोकतन्त्र में जनता को दो बड़े अधिकार मिले–पहला, जनहित याचिका दायर करने की और दूसरा, सूचना का अधिकार, जो पहले अधिकार से भी बड़ा है। भारतीय संसद ने मई 2005 में सूचना का अधिकार अधिनियम पारित किया, जून 2005 में राष्ट्रपति ने इसे स्वीकृति प्रदान की और 12 अक्टूबर 2005 से यह पूरी तरह अमल में आ गया। यह अधिनियिम लोकतन्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का प्रयास कर रहा है। यह एक ऐसा व्यापक कानून है जो सरकारी अधिकारियों से सूचना प्राप्त करने के लिए नागरिकों को वैधानिक अधिकार प्रदान करता है जिसके कारण शासन में पारदर्शिता एवं उत्तरदायित्व की भावना पनप रही है। अनु0 (2) यह वचन देता है कि किसी राज्य के सूचना विधान से किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है। आज के लोकतंत्रीय देश मुक्त तथा पारदर्शी शासन पर अत्यधिक बल दे रहे हैं। सरकार में लोगों की सहभागिता को लोकतन्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है, लोगों की सहभागिता तब तक सुनिश्चित नहीं हो सकती जब तक कि उन्हें यह सूचना न हो कि सरकार क्या कर रही है और कैसे कर रही है? सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 केन्द्र और सभी राज्य सरकारों, स्थानीय सरकारी निकायों और कार्यपालिका के अतिरिक्त न्यायपालिका और विधायिका भी इसके अधिकार क्षेत्र में आती है। यह सरकार के स्वामित्व एवं नियन्त्रण वाले प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से वित्तपोषित निकायों और गैर सरकारी संस्थाओं पर भी लागू होता है। इस अधिनियम का उद्देश्य यह है कि पूरी सूचनाएं आसानी से उपलब्ध हो तथा प्रत्येक जन सूचना अधिकारी द्वारा नियमित अन्तराल पर लोगों को सूचनाएं प्रदान की जाएँ।

शासन में भागीदारी किसी भी सफल लोकतन्त्र का मूलमन्त्र है। नागरिकों के रूप में हमें केवल चुनावों के वक्त ही नहीं, बल्कि नीतिगत निर्णयों, कानून और योजनाएं बनाए जाने के वक्त और परियोजनाओं तथा गतिविधियों का कार्यान्वयन करते समय भी दैनिक आधार पर भागीदारी करने की जरूरत होती है। जनसहभागिता न केवल शासन की गुणवत्ता में वृद्धि करती है, वह सरकार के कामकाज में पारदर्शिता और जवाबदेही को बढ़ावा देती है। पर हकीकत में नागरिक शासन में भागीदारी कैसे कर सकते हैं?जनता कैसे समझ सकती है कि फैसले कैसे किए जा रहे हैं?साधारण लोग कैसे जाने कि कर (टैक्स) से आए पैसे को कैसे खर्च किया जा रहा है या सार्वजनिक योजनाएं सही तरीके से चलाई जा रही है या नहीं या फैसले लेते समय सरकार ईमानदार या निष्पक्षता से काम कर रही है या नहीं?सरकारी अधिकारियों का काम जनता की सेवा करना है, पर इन अधिकारियों को जनता के प्रति जवाबदेह कैसे बनाया जाए?

भागीदारी करने का तरीका यह है कि नागरिक उन संस्थाओं से सूचनाएं मांगने के लिए अपने सूचना के अधिकार का उपयोग करें जो सार्वजनिक धन से चल रही है या जो सार्वजनिक सेवाएं प्रदान कर रही है। यह अधिनियम इस बात को मान्यता देता है कि भारत जैसे लोकतन्त्र में सरकार के पास मौजूद सभी सूचनाएं अन्ततः जनता के लिए एकत्रित की गई सूचनाएं हैं। नागरिकों को सूचनाएं उपलब्ध कराना सरकार के कामकाज का एक सामान्य अंग भर है क्योंकि जनता को जानने का अधिकार है कि सार्वजनिक अधिकारी उनके पैसे से और उनके नाम पर क्या करते हैं।

सूचना का अधिकार अधिनियम इस बात को स्वीकार करता है कि सरकार द्वारा नागरिकों के साथ सूचनाएं बाँटना लोकतन्त्र के संचालन के लिए स्वास्थ्यकर और लाभदायक है। गोपनीयता को अब बीते जमाने की बात हो जाना चाहिए। सूचना का अधिकार अधिनियम के तहत अब किसी भी नागरिक को उन सूचनाओं को देने से इंकार नहीं किया जा सकता है जिन्हें विधायकों और सांसदों जैसे निर्वाचित जन प्रतिनिधियों द्वारा सरकार से सदन में हासिल किया जा सकता है। नये कानून के दायरे में न केवल केन्द्र, बल्कि राज्यों के भी सभी सार्वजनिक संस्थान और पंचायत तथा नगरपालिका जैसी स्थानीय स्वशासन संस्थाएं भी आती हैं। इसका अर्थ है कि अब आप समूचे भारत में हर गांव, जिले, कस्बे और शहर में नागरिक सार्वजनिक संस्थाओं के पास मौजूद सूचनाओं तक पहुँच की मांग कर सकते हैं।

भारत में अभी तक गोपनीयता सभी सरकारी संस्थाओं के कामकाज में व्याप्त रही है, लेकिन सूचना का अधिकार अधिनियम के साथ ही पासा पलटने लगा है। जहाँ शासकीय गोपनीयता अधिनियम 1923 में सूचना को सार्वजनिक करने को एक दण्डनीय अपराध की श्रेणी में रखा गया था, वहीं सूचना का अधिकार अधिनियम अब सरकार में खुलेपन की मांग करता है। पहले सरकार के पास मौजूद सूचनाओं को जनता को उपलब्ध कराना एक दुर्लभ अपवाद हुआ करता था जो आमतौर पर किसी लोक प्राधिकरण के अधिकारियों की इच्छाओं पर निर्भर करता था, लेकिन अब सूचना का अधिकार अधिनियम ने सभी नागरिको को शासन और विकास के अपने जीवन को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर सवाल पूछने और जबाब की मांग करने का अधिकार दे

दिया है। अधिनियम अधिकारियों के द्वारा अपने भ्रष्ट तौर–तरीकों पर पर्दा डालने को अधिक मुश्किल बना देता है। सूचनाओं तक पहुँच के कारण खराब नीति–निर्माण प्रक्रिया को उजागर करने में मदद मिलेगी और इससे भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास में नवजीवन का संचार होगा। यह अधिनियम अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में कहां तक सफल होगा, यह तो समय ही बताएगा, पर इतना अवश्य ही सत्य है कि राजनैतिक सत्ता की ओर से यह एक ईमानदार प्रयास है। ऐसी अपेक्षा की जा रही है और कुछ उदाहरण सामने आ भी रहे हैं, कि सूचना के अधिकार के कारण व्यक्ति की सहभागिता बढ़ेगी और प्रजातंत्र मजबूत होगा। भारतीय प्रजातांत्रिक शासन के समक्ष उपस्थित समस्याओं के समाधान के रूप में भी इस अधिनियम की ओर देखा जा रहा है।

भारतीय लोकतंत्र की चुनौतियों के समाधान में सूचना का अधिकार एक सकारात्मक भूमिका निभाएगा। भाई–भतीजावाद, भ्रष्टाचार, आतंकवाद, सम्प्रदायवाद तथा अक्षम शासन आदि अनेक ऐसी समस्याएं हैं जिनकी उत्पत्ति अधिकांशतः सूचना के अभाव अथवा गलत सूचना से होती है। इनमें से अधिकांश समस्याओं का प्रसार भी गलत सूचनाओं के कारण होता है। जिनका निदान वास्तविक सूचनाओं के अभाव में सम्भव नहीं है। सूचना और राजनैतिक उत्तरदायित्व में भी कार्यात्मक संबंध है। राजनैतिक उत्तरदायित्व के स्वाभाविक एवं सहज हो जाने से अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाता है। निष्कर्षतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारत में सूचना अधिकार अधिनियम प्रजातांत्रिक संस्थाओं के क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्धित सूचनाएं जनता को उपलब्ध कराने में सक्षम होगा एवं ये उपलब्ध एवं सही सूचनाएं प्रजातांत्रिक समस्याओं के समाधान में सहायक होंगी।

सन्दर्भ सूची :

1. डॉ0 सी0 पी0 बर्थवाल–'जानिये सूचना का अधिकार' भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2006
2. डॉ0 आर0 डी0 सैनी एवं रूपा मंगलानी – 'सूचना का अधिकार, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2003
3. योजना, जनवरी 2006, नई दिल्ली
4. ए0 सूर्य प्रकाश – 'सूचना के अधिकार का संकट' दैनिक जागरण; 22 जून 2007, वाराणसी संस्करण (सम्पादकीय)
5. विष्णु राजगढ़िया एवं अरविन्द केजरीवाल–'सूचना का अधिकार' राजकमल प्रकाशन, 2007, नई दिल्ली
6. मंथन, जनवरी–मार्च 2006, वर्ष 27, अंक–1, नई दिल्ली
7. दृष्टिकोण मंथन, 01–15 मई 2007, नई दिल्ली
8- Shruti Pandey – "Freedom of Information" (Educational), Combat Law, 1 Feb. 2003.
9- Oulac Niranjan – "Right to Information and the Road to Heaven", EPW Commentry, 19 No. 2005.
10- Anil Maheshwari & Dr. Faizan Mustafa – "Right to Information Ajanta Publication, 1998, New Delhi.

❖❖❖

पुस्तक अंश

कवि, नागरक

गणेश त्रयंबक देशपांडे

काव्य निर्माण के साथ रसिक वृत्ति भी उदित होती है। कवि तथा रसिक के मिलन में काव्यचर्चा प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से काव्य के अनुपद काव्यचर्चा आनी चाहिए और वह आयी भी।

काव्यक्रिया एक कला है। इसलिए काव्यशास्त्र एक कला का शास्त्र है। कला का शास्त्र प्रयोगप्रधान होता है। तदनुसार काव्यशास्त्र भी आरम्भ में प्रयोगप्रधान था। भरतमुनि के नाट्याशास्त्र से यह स्पष्ट होता है। नाट्यशास्त्र में नाट्य की केवल तत्त्वतः विवेचना नहीं है, अपितु नाट्य सफल कैसे किया जाता है यह उसमें बताया गया है। नेपथ्य, पाठ, रंग आदि की विविध विधियां अथवा कल्प इसमें बताये गये हैं। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र का क्रियाकल्प के ग्रन्थ के रूप में निर्देश हो सकता है। काव्यविवेचना के अनेक ग्रन्थों में कवि शिक्षा तथा काव्य पठन की दृष्टि से विचार किया हुआ मिलता है। उससे कला के इस प्रायोगिक अंश का ही अभिप्राय है। संस्कृत के अनेक शिक्षा ग्रन्थ तथा राजशेखर के काव्यमीमांसा का पाठ्यगुण। यह अध्याय इसी प्रयोगशाला का द्योतक है। काव्य के पठन तथा नाट्य के प्रयोग के उपक्रमों से ही नाट्यचर्चा उदय हुई है। श्रोता अथवा दर्शकों पर काव्य अथवा नाट्य का अपेक्षित परिणाम दृष्टिगोचर होने पर ही काव्यसिद्धि या नाट्यसिद्धि हुई; ऐसा समझा जाता था। भरतमुनि द्वारा लिखा हुआ नाट्य सिद्धि का अध्याय इस दृष्टि से पढ़ना आवश्यक है। श्रोता अथवा दर्शकों पर इष्ट परिणाम करने के लिए काव्य तथा नाट्य में क्या होना चाहिए, इस पर विचार प्रारंभिक ग्रन्थों में पाया जाता है। इस दृष्टि से विवेचना करने में आवश्यक सैद्धान्तिक विवेचना इन ग्रन्थों में की जाती थी। इस दृष्टि से विवेचना करने में आवश्यक सैद्धान्तिक विवेचना तथा सैद्धान्तिक विवेचना मिश्ररूप में पायी जाती है।

काव्य चर्चा का उद्‌गम रसिक मनोभूमि में है। आधुनिक काल में काव्य की चर्चा करना कुछ आसान सा हो गया है। नूतन काव्य पढ़ने पर हम उसकी चर्चा पत्र–पत्रिकाओं में कर सकते हैं। उसके लिए एकत्रित होना आवश्यक नहीं है। किन्तु प्राचीन काल में बिना एकत्रित हुए इस प्रकार की चर्चा करना असंभव होता था। चर्चा के लिए किसी सभा का आयोजन आवश्यक होता था। ऐसी सभा को विदग्धगोष्ठी कहा जाता था। गोष्ठी का अर्थ है मंडल या सभा। उस काल में काव्य गायन या काव्य चर्चा ऐसी विदग्धगोष्ठी में हुआ करती थी। विदग्धगोष्ठी में सम्मिलित होने की योग्यता रखना शिष्टता का लक्षण माना जाता था। इन विदग्धगोष्ठियों के द्वारा कवि का काव्य तथा उसकी कीर्ति का धीरे धीरे प्रसार होता था। अन्त में उनका किसी राजसभा में प्रवेश होता था।

विदग्धगोष्ठी में नित्य काव्य का आस्वाद ग्रहण करने वाला तथा काव्य चर्चा का प्रवर्तक रसिक ही नागरक है। संस्कृत काव्य पर तथा काव्य के द्वारा काव्य शास्त्र पर भी नागरक के आयुःक्रम का प्रभाव रहा है। दोपहर के समय शान्ति चित्त से मित्रों सहित काव्य गोष्ठी में काव्यास्पद ग्रहण करने वाला नागरक का चरित्र कैसा होगा यह देखने से साहित्यशास्त्र की अनेक समस्याओं का स्पष्टीकरण हो सकता है।

नगर का निवासी सुखसम्पन्न गृहस्थ नागरक कहलाता था। परन्तु सुखसम्पन्न का अर्थ यह नहीं कि वह निरूद्योगी रहता था। उस व्यक्ति को नागरक कहा जाता था। जिसने विद्याध्ययन पूरा करने के पश्चात् निज वर्ण के लिए उचित व्यवसाय के द्वारा धनार्जन करते हुए गृहाश्रम में प्रवेश किया हो। नागरक का अर्थ है विदग्धजन। सारांश, आज जिसे सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सज्जन समझा जाता है वहीं पूर्वकालीन नागरक है। चातुर्वर्ण्य के किसी भी वर्ण का व्यक्ति सुशिक्षित तथा शिष्ट होने पर उसे नागरक की प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। वात्स्यायन के वर्णन के अनुसार का दिन क्रम निम्नलिखित रूप का होता था।

ऐसा व्यक्ति नगर का मूल निवासी हो या किसी उद्योगवश नगर में रहने के लिए आया हुआ हो, वह नगर के सभ्य लोगों की बस्ती में रहा करता था। उसके घर के सामने छोटा सा उद्यान हुआ करता था। घर के कक्ष सुविधा के अनुकूल हुआ करते थे। साधारणतः उसका घर द्विवासगृह हुआ करता था। अर्थात् घर में एक शैयागृह और उससे सट कर बाहर की ओर आराम करने के लिए एक बैठक हुआ करती थी। ऊँचे तख्तापोश पर गद्‌देतकिये रख कर बैठक बनायी जाती थी। इस तख्तपोश के शिरोभाग की ओर एक छोटी सी वेदी पर चन्दन का चूर्ण, सुगन्धित द्रव्य और पसीना थामने के लिए लेप करने के सुगन्धित चूर्ण, ताम्बूल आदि वस्तुएं रखी जाती थीं। तख्तपोश के नीचे पीकदान इत्यादि वस्तुएं रखी जाती थीं। कमरे में एक ओर खूँटी पर वीणा रखी जाती थी। दूसरी ओर एक चित्रफलक होकर उसके समीप चित्रकला की आवश्यक सामग्री रखी रहती थी। तख्तपोश के पास ही कुछ पुस्तकें ऐसी रखी रहती थीं। इनके अतिरिक्त सजावट के लिए कमरे में जगह–जगह कुरंटमाला अर्थात् वृक्ष से बनायी हुई नकली फूलों की मालाएं लटकायी रहती थीं। कमरे में दूसरी ओर एक बड़ी विछायत बिछायी रहती थी। और उस पर चौसर आदि खेलने का सामान रखा रहता। वासगृह के बाहर की ओर शुकसरिकाओं के पिंजड़े